बाँठिया ग्रन्थमाला संख्या १०

इन्द्रियाणि च संयम्य, कृत्वा चित्तस्य निग्रहम् ।
संस्पृशन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि ॥

इन्द्रियों का संयम कर चित्त का निग्रह कर आत्मा से आत्मा का स्पर्श कर इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा ।

—सम्बोधि, अ० १६, श्लोक १८

सम्बोधि

मुनि नथमल

अनुवादक
मुनि मीठालाल

प्रकाशकीय

सेठ चाँदमल बाठिया ट्रस्ट का एक ध्येय जैन दर्शन की विचारधारा को जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत करना भी है और मुनि श्री की कृति का यह प्रकाशन पाठकों को जैन दर्शन का कुछ आलोक दे सकेगा ऐसी आशा है।

मुनि श्री नथमल जी आचार्य श्री तुलसी के अन्यतम मेधावी शिष्यों में से हैं और कुशल दार्शनिक विचारक लेखक व कवि हैं। जो भी उनसे या उनकी कृतियों के सम्पर्क में आये हैं वे उनकी प्रतिभा से परिचित होंगे। प्रत्यक्ष कि प्रमाण की अपेक्षा से हमारा यही अनुरोध है कि मुनि श्री के बारे में जानकारी करने के लिए जिज्ञासु पाठक उनकी रचनाओं का अवलोकन व मनन करें।

इस पुस्तक की तैयारी में अनेक महानुभावों का जो अमूल्य सहयोग मिला है हम उनके आभारी हैं।

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा
वि० सं० २०१८

प्रकाशक

卐

अपनी ओर से

यह स्याद्वाद ही तो है कि कोई नया ही नहीं होता और कोई पुराना नहीं होता। एक समय आता है नया पुराना बन जाता है और एक समय आता है पुराना नया बन जाता है। यह ग्रन्थ न नया है और न पुराना। पुराना इसलिए नहीं है कि इसकी भाषा अर्धमागधी नहीं है भगवान की भाषा में नहीं है। नया इसलिए नहीं है कि भावना और तत्त्वज्ञान मेरा अपना नहीं है जो भगवान् ने कहा उसी का अनुवाद है। पुष्पों की सुरभि में मालाकार का क्या होता है ? उसके लिए इतना ही बहुत है कि वह उनका चयन करे और एक धागे में गूथ दे। आचार्य श्री तुलसी ने मुझे प्रोत्साहित किया और मैं सहसा मालाकार बनने को चल पड़ा।

मालाकार का कार्य सर्वथा मौलिक नहीं है तो सर्वथा सहज भी नहीं है। योजना निर्माण से कम कठिन नहीं होती। उचित स्थान और समय पर योजित करने की दृष्टि सूक्ष्म चाहिए पैनी चाहिए। मैं अपनी दृष्टि को सूक्ष्म या पैनी मानूं या न मानूं ये दोनों ही गौण प्रश्न हैं। प्रधान बात इतनी है कि एक निमित्त मिला और यह संकलन हो गया।

अनेक लोगों ने कहा—एक स्वाध्याय ग्रन्थ की अपेक्षा है जो न बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा जिसमें जीवन की व्याख्या हो जीवन का दर्शन हो। मैं स्वयं अनुभव करता था कि जैन परम्परा

सत्य आदि उसी के अङ्गोपाङ्ग हैं।

गीता का अर्जुन कुरुक्षेत्र के समराङ्गण में कराव होता है तो सम्बोधि का मेघकुमार साधना की समरभूमि में क्लाव बनता है। गीता के गायक योगीराज कृष्ण हैं और सम्बोधि के गायक हैं भगवान् महावीर।

अर्जुन का पौरुष जाग उठा कृष्ण का उपदेश सुनकर और महावीर की वाणी सुन मेघकुमार की आत्मा चैतन्य से जगमगा उठी। दीपक से दीपक जलता है। एक का प्रकाश दूसरे को प्रकाशित करता है। मेघ ने जो प्रकाश पाया वही प्रकाश यहाँ व्यापक रूप में है। कभी कभी ज्योति का एक कण भी जीवन को ज्योतिर्मय बना देता है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद मुनि मीठालाल जी ने किया है। वह सहज सरल और संक्षिप्त है। भगवान् का दृष्टिकोण बहुत ही सहज है पर जो जितना सहज है वह उतना ही गहन बन जाता है। यह गहराई उसका सहज रूप ही है तरल बाल को मन वह असहज लगे। गहराई को मापने के लिए विशद व्याख्या की अपेक्षा है। समय आने पर उसकी पूर्ति भी सम्भव है। मैं सरल संस्कृत लिखने का अभ्यासी नहीं हूँ पर इसके भाषा-सारल्य पर आचार्य श्री ने मुझे साश्चर्य आशीर्वाद दिया इसे मैं अपने जीवन की सरलता का प्रकाश स्तम्भ मानता हूँ।

इसके आठ अध्याय मैंने आचार्य श्री की बम्बई यात्रा के समय बनाए थे और आठ अध्याय बनाए कलकत्ता-यात्रा के समय। इस प्रकार दो महान यात्राओं के आलोक में इसकी रचना हुई है।

सम्बोधि

समर्पण

परम गुरु आचार्य श्री तुलसी चरणयो

यत करोमि यद्गृह्णामि यद्वदामि लिखामि च ।
तत्सर्वमपि तेनेद, तुभ्यमेव समर्पये ॥

कलकत्ता

वि स २०१६ कार्तिक शुक्ला २

मुनि नथमल

श्रेणिकस्यात्मजो मेघो, भव्यात्माल्परजोमरा ।
श्रुत्वा भगवतो भाषां विरक्तो दीक्षितः क्रमात् ॥५॥

५ मगधराज श्रेणिक का पुत्र मेघ भगवान् के पास आया। उसके कर्म और आश्रव (कर्म बन्धन के हेतु) स्वल्प थे। वह भव्य था। उसने भगवान की वाणी सुनी, विरक्त हुआ और अपने माता पिता की स्वीकृति पाकर दीक्षित हुआ।

कठोरो भूतलस्पर्शः स्थानं निर्ग्रन्थसंकुलम्।
मध्यमार्गं शयानस्य विक्षेपं निन्युरुन्मनः ॥६॥

६ पहली रात की घटना है कि तीन वस्तुओं ने उसके मन को चञ्चल बना दिया। एक तो भूमि का स्पर्श कठोर था दूसरी बात—उस स्थान में बहुत बड़ी संख्या में निर्ग्रन्थ थे और तीसरी बात—वह मार्ग के बीच में सो रहा था। आते जाते हुए निर्ग्रन्थों के स्पर्श से उसकी नींद हवा हो गई थी।

त्रियामा शतयामाऽभूत् नानासंकल्पशालिनः।
निस्पृहत्वं मुनीनां तं, प्रतिपलमपीडयत् ॥७॥

७ उसके मन में भांति भांति के संकल्प उत्पन्न होने लगे। उसके लिए वह त्रियामा (रात) शतयामा (सौ पहर जितनी) हो गई। निर्ग्रन्थ साधुओं का निस्पृहभाव उसे पल पल अखरने लगा।

चिरं प्रतीक्षितो रश्मिः रवेरुदयमासदत्।
महावीरस्य सान्निध्यमभजत् सोऽपि चञ्चलः ॥८॥

८ वह चिरकाल तक सूर्योदय की प्रतीक्षा करता रहा। रात

वाता और सूर की रश्मियाँ प्रगट हुई। वह अस्थिर विचारों को लेकर भगवान् महावीर के पास पहुँचा।

विधाय वन्दनां नम्रः विदधत पर्युपासनाम।
विनयावनतस्तस्थौ विवक्षुरपि मौनभाक् ॥६॥

६ वह विनयावनत हो भगवान को वन्दना कर उनकी पर्युपासना करने लगा। वह बोलना चाहता था फिर भी सकोचवश मौन था।

कोमलं भगवान प्राह मेघ ! वैराग्यवानपि।
इयता स्वल्पकष्टेन कातरस्त्वमियानभूः ॥१०॥

१० भगवान कोमल शब्दों में बोले—मेघ ! तू विरक्त होते हुए भी इतने थोड़े से कष्ट से इतना अधीर हो गया ?

पश्य स्तिमितया दृष्ट्या कष्टं तत्पौर्वदैहिकम।
असम्यक्त्वदशायाञ्च वत्स ! सोढं त्वया हि यत् ॥११॥

११ तू अपने मन को एकाग्र बना और स्थिर-शान्त दृष्टि से अपने पूर्वजन्म के कष्ट को देख। वत्स ! उस समय तू सम्यक् दृष्टि नहीं था फिर भी तूने अपार कष्ट सहा था।

कथं मयान्य किं कष्टं स्वीकृतं ब्रूहि तत प्रभो ! ।
न स्मरामि न जानामी-च्छामि बोद्धुं समस्तुकः ॥१२॥

१२ मेघ बोला—प्रभो ! मैंने क्या कष्ट सहा और कब सहा यह न मुझे याद है और न मैं उसे जानता ही हूँ। प्रभो ! मैं उसे जानने को उत्सुक हूँ। आप मुझे बताएँ।

भगवान् प्राह सत्योऽयं घटना पौर्वदेहिकी।
जातिस्मृतिं विना वत्स! बोद्धुं शक्या न जन्तुभिः ॥१३॥

१३ भगवान ने कहा—वत्स! तू सच कहता है। जाति-स्मृति (वह ज्ञान जिससे पूर्व जन्म की स्मृति हो सके) के बिना पूर्व जन्म की घटना कोई भी प्राणी नहीं जान सकता।

ईहापोह विनिश्चय, विना सा नव जायते।
संस्कारा सञ्चिता गूढा प्रादु स्युयत प्रयत्नत ॥१४॥

१४ ईहा (वितर्क) अपोह (निश्चय) और मन की एकाग्रता के बिना जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। जो संचित और गूढ संस्कार होते हैं वे प्रयत्न से ही प्रकट होते हैं।

मेरुप्रभाभिधो हस्ती त्वमासी पूर्वजन्मनि।
विन्ध्यस्योपत्यकाचारी विहारी स्वच्छया वने ॥१५॥

१५ भगवान् ने कहा—मेघ! तू पूर्वजन्म में मेरुप्रभ नाम का हाथी था। तू विन्ध्य पर्वत की तलहटी के वन में स्वच्छन्दता से विहार करता था।

स्मृता भवाद् वनवह्नि-मण्डल योजनप्रमम।
सम्यपूर्वानुभूतिस्त्व दीपकालिकभजित ॥१६॥

१६ उस समय तू समनस्क था। तुझे पूर्वजन्म की स्मृति हुई। तूने दावानल से बचने के लिए चार कोस का स्थल बनाया।

घासा उत्पाटिता सर्वे, लता वृक्षाश्च गुल्मका।
प्रथारीभ सप्तशत स्थल हस्ततलोपमम ॥१७॥

१७ तूने सात सौ हाथियों का सहयोग पाकर सब घास, लता,

कृत्वा कण्डूयनं पादः, दधता भूतले पुनः ।
शशको निम्नगोऽलोकि, त्वया तत्त्वं विजानता ॥२२॥

तदनुकम्पिना तत्र, न हतः स्यादसौ मया ।
इति चिन्तयता पादः, त्वया संधारितोऽन्तरा ॥२३॥

२२–२३ खुजलाने के बाद जब तू पाँव नीचे रखने लगा तब तूने वहाँ (पाँव से खाली हुए स्थान में) खरगोश को बैठे देखा। तू अहिंसा के तत्त्व को जानता था। तुझ में अनुकम्पा (अहिंसा) का भाव जागा। खरगोश मेरे पैर से कुचला न जाए—यह सोच तूने पाँव को बीच में ही थाम लिया।

शुभेनाध्यवसायेन, लेश्यया च विशुद्धया ।
संसारः स्वल्पतां नीतो, मनुष्यायुस्त्वयार्जितम् ॥२४॥

२४ शुभ अध्यवसाय (मन का सूक्ष्म परिणति) और विशुद्ध लेश्या (मनोभाव) से तूने संसार–भ्रमण को स्वल्प किया और मनुष्य होने योग्य आयुष्य कर्म के परमाणुओं का अर्जन किया।

सार्द्धद्वयदिनान्यस्य दवः स्वयं शमं गतः ।
निर्धूमं जातमाकाशमभया जन्तवोऽभवन् ॥२५॥

२५ ढाई दिन के बाद दावानल अपने आप शान्त हुआ। आकाश निर्धूम हो गया और वे वन्य पशु निर्भय हो गए।

स्वच्छन्दं गहने शान्ते विजह्रुः पशवस्तदा ।
पलायितः शशकोऽपि, रिक्तं स्थानं त्वयेक्षितम् ॥२६॥

२६ अब वन्य-पशु उस शान्त जंगल में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने फिरने लगे। वह खरगोश भी वहाँ से चला गया। पीछे तूने वह स्थान खाली देखा।

पाद न्यस्तु पुनर्भूमौ, साद्ध द्वयदिनान्तरम ।
स्तम्भीभूत जडीभूत स्त्वम प्रयतित तदा ।।२७।।

२७ ढाई दिन के पश्चात् तूने उस खम्भ की तरह अकड़े हुए निष्क्रिय पाँव को पुन भूमि पर रखने का प्रयत्न किया ।

स्थूलकाय क्षत्रकाम, जरसा जीर्ण विग्रह ।
पादन्यासे न शक्तोभू भूतल पतित स्वयम ।।२८।।

२८ तेरा शरीर भारी भरकम था । तू भूख म दुबल और बढाप म जर्जरित था । इसलिए तू पर को फिर से नीचे रखने में समर्थ नहीं हो सका । तू लड़खड़ा कर भूमि पर गिर पड़ा ।

विपुला वदनोदीर्णा, घोरा घोरतमोज्ज्वला ।
सहित्वा समवृत्तिस्तां तत्र यावद दिन त्रयम ।।२९।।

२९ उस समय तुझ विपुल घोर घोरतम और प्रज्वलित वेदना हुई । तीन दिन तक तूने उसे समभाव पूर्वक सहन किया ।

शायरन्ते पूरयित्वा जातस्त्व श्रेणिकाङ्गज ।
अहिंसा साधिता सत्त्र, कष्टे च समता धिना ।।३०।।

३० तूने अहिंसा की साधना की और कष्ट म समभाव रखा । अन्त में आयुष्य पूरा कर तू श्रेणिक राजा का पुत्र हुआ ।

अवशा यदमन्त्यके, कष्टमर्जितमात्मना ।
विलपन्तो विषीदन्त, समभाव सुदुर्लभ ।।३१।।

३१ कई व्यक्ति पहले कष्ट का अर्जन करते ह फिर जब उस भुगतना पड़ता है तब व विलाप और विषाद के साथ उसे भुगतते

है। व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र होता है किन्तु उसका फल भुगतने में परतन्त्र। हर एक के लिए समभाव सुलभ नहीं होता।

उदीर्णां वेदनां सम्यग्, सहते समभावतः।
निर्जरां कुरुते काम, देही दुःखं महाफलम् ॥३२॥

३२ जो व्यक्ति कर्म के उदय से उत्पन्न वेदना को समभाव से सहन करता है उसके बहुत निर्जरा (कर्म क्षय जनित आत्म शुद्धि) होती है। क्योंकि शरीर में उत्पन्न कष्ट को सहन करना महान फल का हेतु है।

असम्यक्त्वी तदा कष्टं नाभवो वत्स! कातरः।
सम्यक्त्वी संयमी-दानीं क्लीवोऽभूः स्वल्पवेदनः ॥३३॥

३३ वत्स! उस समय हाथी के जन्म में तू सम्यक्दृष्टि नहीं था फिर भी कष्ट में कायर नहीं बना। इस समय तू सम्यक्दृष्टि है और संयमी भी। फिर भी स्वल्प थोड़े से कष्ट में क्लीव—सत्वहीन बन गया?

मुनीनां काय-संस्पर्शं प्रमिला-नाश मानतः।
अधीरो मामुपेतोसि सद्यो गन्तुं पुनर्गृहम् ॥३४॥

३४ साधुओं के शरीर का स्पर्श होने से रात को तेरी नींद नष्ट हो गई। इतने से ही तू अधीर हो गया और घर लौट जाने के लिए सहसा मेरे पास आ गया।

नाहं गन्तुं समर्थोऽस्मि मुक्ति मार्गं सुदुश्चरम्।
यत्र कष्टानि सह्यानि, नानारूपाणि सन्ततम् ॥३५॥

३५ तूने सोचा—मुक्ति का मार्ग सुदुश्चर है। मैं उस पर

चलन में समय नहा हूँ जहाँ चलन वाल को निरतर नाना प्रकार के कष्ट सहन करन हाते हैं।

सर्वे स्वार्थवशा एते मनयोऽप न जानते।
भीम सुदुश्चरो घोरो निग्र‌न्थानां तपोविधि ॥३६॥

३६ य सब साधु स्वार्थी ह दूसरे की चिता नही करते। निग्रन्था का तपस्या करन की विधि बडी भयकर सुदुश्चर और घार है।

यत्नोऽस्य किमभिप्राय, सोहमन विजानत।
देह मुग्धा जना लोके, नानाकष्टेषु गेरते ॥३७॥

३७ मोह क मन को जानन वान क लिए क्या एसा सोचना ठीक है जसा कि तून साचा है? क्या तू नहा जानता कि शरीर में आमक्ति रखने वाले लोग नाना प्रकार क कष्ट भागत ह?

यक्न नतत्तवायुष्मन! तत्त्व वत्सि हिताहितम्।
पूर्व जन्म स्थिति स्मृत्वा निश्चल कुरु मानसम ॥३८॥

३८ आयुष्मन्! तरे लिए एसा सोचना ठीक नही। क्या हित है और क्या अहित—इस तत्त्व का तू जानता है। तू पिछले जन्म की घटना का याद कर अपने मन का निश्चल बना।

हृत! हृत! समर्थोऽस्य मर्यो यदत्त त्वयोदित।
मदीयो मानसो भावो बद्धो बुद्धन सवथा ॥३९॥

३९ मघ बाला—भगवन्! आपन जो कुछ कहा वह बिल्कुल सही है। आपन मेरे मन क सारे भाव जान लिए।

द्वितीय अध्याय

मेघ आह—

सुखानि पश्चात् कृत्वा, किमयं कष्टमुद्वहेत्।
जीवनं स्वल्पमेवास्ति पुनर्लभ्यं नवाऽथवा ॥१॥

१ मेघ बोला—सुखों को पीछे छोड़कर कष्ट क्यों सहा जाए जबकि जीवन की अवधि स्वल्प है और कौन जाने वह भी फिर प्राप्त होगा या नहीं?

भगवान् आह—

सुखासक्तो मनुष्यो हि, कर्तव्याद्विमुखो भवेत्।
धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानसः ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—जो मनुष्य सुख में आसक्ति रखता है और विलास में रचा पचा रहता है वह कर्तव्य से पराङ्मुख बनता है। उसकी धर्म में रुचि नहीं होती।

कर्तव्यञ्चाप्यकर्तव्यं, भोगासक्तो न शोचति।
कार्याकार्यमजानानो लोकश्चान्ते विषीदति ॥३॥

३ भोगों में आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य के बारे में सोच नहीं पाता। कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानने वाला व्यक्ति अन्त में विषाद को प्राप्त होता है।

ईहापोहं मार्गणाञ्च, गवेषणाञ्च कुर्वता।
तन जातिस्मृतिलब्धा, पूर्वजन्म विलोकितम् ॥४०॥

४० ईहा अपोह मार्गणा और गवेषणा करने से मेघ को पूर्व जन्म की स्मृति हुई और उसने अपना पिछला जन्म देखा।

मेघ प्राह—

त्वदीया देशना सत्या दृष्टाः पूर्वस्थितिमया।
सन्देहान् विनोदाय जिज्ञासामि च किञ्चन ॥४१॥

४१ मेघ बोला—भगवन्! आपकी वाणी सत्य है। मैंने पूर्व भव की घटनाएँ जान लीं। मेरे मन में कुछ सन्देह हैं। उन्हें दूर करने के लिए आपसे कुछ जानना चाहता हूँ।

द्वितीय अध्याय

मेघ प्राह—

सुखानि पृष्ठतः कृत्वा किमथ कष्टमुद्वहेत्।
जीवितं स्वल्पमेवैतत्, पुनर्लभ्य नवाऽथवा ॥१॥

१ मेघ बोला—सुखों को पीठ दिखा कर कष्ट क्यों सहा जाए जबकि जीवन की अवधि स्वल्प है और कौन जाने वह भी फिर प्राप्त होगा या नहीं?

भगवान् प्राह—

सुखासक्तो मनुष्यो हि कर्तव्याद्विमुखो भवेत्।
धर्मे न रुचिमाधत्ते, विलासाबद्धमानसः ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—जो मनुष्य सुख में आसक्ति रखता है और विलास में रचा पचा रहता है वह कर्तव्य से पराङ् मुख बनता है। उसकी धर्म में रुचि नहीं होती।

कर्तव्यञ्चाप्यकर्तव्यं, भोगासक्तो न शोचति।
कार्याकार्यमजानानो, लोकेऽत्राऽन्ते विषीदति ॥३॥

३ भोगों में आसक्त रहने वाला व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य के बारे में सोच नहीं पाता। कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानने वाला व्यक्ति अन्त में विषाद को प्राप्त होता है।

मेघ प्राह—

सुखं स्वाभाविकं भाति, दुःखमप्रियमङ्गिनाम।
ततः किं दुःखं हि सौख्यं विहाय सुखमात्मनः ॥४॥

४. मेघ बोला—प्राणियों को सुख स्वाभाविक लगता है, प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय। तब सुख को ठुकरा कर दुःख क्यों सहा जाए?

भगवान प्राह—

यत् सौख्यं पुद्गलं सृष्टं दुःखं तत् वस्तुतो भवेत्।
मोहाविष्टो मनुष्यो हि तत्तत्त्वं नहि विन्दति ॥५॥

५. भगवान् ने कहा—जो सुख पुद्गल जनित है वह वस्तुतः दुःख है किन्तु मोह से घिरा हुआ व्यक्ति इस सही तत्त्व तक पहुँच नहीं पाता।

दृष्टिमोहेन मूढोऽयं मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते।
मिथ्यात्वी घोरकर्माणि समानं भ्राम्यति संसृतौ ॥६॥

६. दर्शन मोह (दृष्टि को मूढ़ बनाने वाला) से मुग्ध मनुष्य मिथ्यात्व की ओर झुकता है और मिथ्यात्वी घोर कर्म का उपार्जन करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है।

मूढश्चारित्रमोहेन रज्यति द्वेष्टि च क्वचित्।
रागद्वेषौ च कर्माणि स्रवतस्तेन संसृतिः ॥७॥

७. चारित्र मोह (चरित्र को विकृत बनाने वाला) से मुग्ध मनुष्य कभी राग करता है और कभी द्वेष। कर्म राग और द्वेष से आत्मा में प्रवाहित होते हैं और उनसे जन्म मरण की परम्परा चलती है।

यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च ।
एवञ्च मोहायतनं हि तृष्णा, मोहञ्च तृष्णायतनं वदन्ति ॥८॥

८ जैसे बगली अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बगली से, उसी भाँति मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति स्थान मोह।

रागश्च दोषोऽपि च कर्मबीजं, कर्माऽपि मोहप्रभवं वदन्ति ।
कर्माऽपि जातिमरणस्य मूलं दुःखं च जातिं मरणं वदन्ति ॥९॥

९ राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म मरण का मूल है। तीर्थंकरों ने जन्म मरण को दुःख कहा है।

दुःखं हतं यस्य न चास्ति मोहो मोहो हतो यस्य न चास्ति तृष्णा ।
तृष्णा हता यस्य न चास्ति लोभो लोभो हतो यस्य न किञ्चनास्ति॥१०॥

१० जिसके मोह नहीं है उसने दुःख का नाश कर दिया, जिसके तृष्णा नहीं है उसने मोह का नाश कर दिया, जिसके लोभ नहीं है उसने तृष्णा का नाश कर दिया और जिसके पास कुछ भी नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया।

रागञ्च दोषञ्च तथैव मोहमुद्धर्तुकामेन समूलजालम् ।
ये ये उपाया प्रतिपत्तव्या तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वम् ॥११॥

११ राग द्वेष और मोह का मूल सहित उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन जिन उपायों को स्वीकार करना चाहिए उन्हें मैं क्रमशः कहूँगा।

रसा प्रकामं न निषवणीया, प्रायो रसा दृप्तिकरा नराणाम् ।
दृप्तञ्च कामा समभिद्रवन्ति, द्रुमं यथा स्वादुफलं विहङ्गाः ॥१२॥
१२ रसों (विषयों) का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। रस मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती हैं उसे विषय सताते हैं जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने, समारुतो नोपशमं हयुपैति।
एवं हृषीकाग्निरनल्पभुक्ते, न ब्रह्मचारी हितमाप्नोति कश्चनापि ॥१३॥
१३ पवन इन्धन से भरा हो हवा चल रही हो वहाँ सुलगी हुई दावाग्नि जैसे नहीं बुझती उसी प्रकार ठूस-ठूस कर खाने वाले की इन्द्रियाग्नि—कामाग्नि शान्त नहीं होती। इसलिए ठूस-ठूस कर खाना किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

विविक्तशय्यासनयन्त्रितानामल्पाशनानां दमितेन्द्रियाणाम्।
रागो न वा धर्षयते हि चित्तं पराजितो व्याधिरिवौषधेन ॥१४॥
१४ जो एकान्त बस्ती में रहने के कारण नियन्त्रित हैं जो कम खाते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं उनके मन को राग रूपी शत्रु वश पराजित नहीं कर सकता जैसे औषध से मिटा हुआ रोग देह को पीड़ित नहीं कर पाता।

कामानुगृद्धिप्रभवं हि दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत्कायिकं मानसिकञ्च किञ्चित् तस्यान्तमाप्नोति च वीतरागः ॥१५
१५ सब जीवों और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है वह विषयों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता

है। वीतराग उस दु ख का ग्रत कर देता है।

मनोज्ञेष्वमनोज्ञेषु, स्रोतसां विषयेषु य ।
न रज्यति न च द्वेष्टि, समाधि सोऽधिगच्छति ॥१६॥

१६ मनाज्ञ ग्रौर ग्रमनाज्ञ विषया में जो राग ग्रौर द्वप नही करता वह समाधि (मानसिक स्वास्थ्य) को प्राप्त हाता है।

स्पर्शा रसास्तथा गन्धा, रूपाणि निनदा इमे।
विषया ग्राह्काण्यषामिन्द्रियाणि ययाक्रमम ॥१७॥
स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्रञ्च पञ्चमम।
ण्या प्रवतक ग्राहु सर्वार्थग्रहण मन ॥१८॥

१७–१८ स्पर्श रस गन्ध रूप ग्रौर शब्द—य पाच विषय ह ग्रौर इनको ग्रहण करन वाली क्रमश य पाच इन्द्रिया ह—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु ग्रौर श्रोत्र। इन पाचा इन्द्रिया का प्रवत्तक ग्रौर सब विषया को ग्रहण करन वाला मन होता है।

न रोद्धु विषया शक्या विश्न्तो विषयित्रजे।
सङ्गो व्यक्तोऽथवाव्यक्तो रोद्धु शक्योऽस्ति सदंगत ॥१९॥

१९ स्पर्श रस ग्रादि विषया का इन्द्रियों
है उसे नहा रोका जा सकता
ग्रस्पष्ट का रोका जा

रसा प्रकाम न निषेवणीया प्राप्ता रसा दृप्तिकरा नराणाम् ।
दृप्तञ्च कामा समभिद्रवन्ति, द्रुम यथा स्वादु फल विहङ्गा ॥१२॥

१२ रसो (विषयो) का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। रस मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएं उद्दीप्त होती हैं उसे विषय सताते हैं जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

यथा दवाग्नि प्रचुरेन्धन वने समारुतो नोपशम इयपति।
एव हृषीकाग्निरनल्पभुक्ते, न शान्तिमाप्नोति कस्यञ्चनापि ॥१३॥

१३ वन ईंधनों से भरा हो हवा चल रही हो वहाँ सुलगी हुई दावाग्नि जैसे नहीं बुझती उसी प्रकार ठूस-ठूस कर खाने वाले की इन्द्रियाग्नि–कामाग्नि शान्त नहीं होती। इसलिए ठूस ठूस कर खाना किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नहीं होता।

विविक्तशय्यासनयन्त्रिताना मल्पाशनाना दमितेन्द्रियाणाम्।
रागो न वा धर्षयते हि चित्त, पराजितो व्याधिरिवौषधेन ॥१४॥

१४ जो एकान्त बस्ती में रहने के कारण नियन्त्रित हैं जो कम खाते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं उनके मन को राग रूपी शत्रु वैसे पराजित नहीं कर सकता जैसे औषध से मिटा हुआ रोग देह को पीड़ित नहीं कर पाता।

कामानुगृद्धि प्रभव हि दुःख सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत्कायिक मानसिकञ्च किञ्चिच्च तस्यान्तमाप्नोति च वीतराग ॥१५

१५ सब जीवो और क्या देवताओ के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है वह विषयो की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता

जो भोगों में राग रखता है—राग द्वेष नहीं करता वह वीतराग कहलाता है।

विषयेष्वनुरक्तो हि तदुत्पादनमिच्छति।
रक्षणं विनियोगञ्च भुञ्जानस्तान् प्रतिमुह्यति ॥२१॥

२१ विषयों में जो अनुरक्त है वह उनका उत्पादन चाहता है उनके उत्पन्न होने के बाद वह उनकी सुरक्षा चाहता है और मूर्छित विषयों का उपभोग करता है। इस प्रकार उनका भोग करने वाला एक मूढ़ता के बाद दूसरी मूढ़ता का अर्जन कर लेता है। बिइए मन्दे पुणो त करेइ का सिद्धान्त है। जो अपने कृत दुराचार से मूढ़ होता है वही बार बार उस दुराचार का सेवन करता है।

उत्पादं प्रति नाशो हि निधिं प्रति तथा व्ययः।
क्रियां प्रत्यक्रिया नाम सानाय लघु धावति ॥२२॥

२२ उत्पाद के पीछे नाश संग्रह के पीछे व्यय और क्रिया के पीछे अक्रिया निश्चित रूप से लगी हुई है।

अतृप्तो नाम भोगानां, विगमेन विषीदति।
अतृप्त्या पीडितो लोकः, आदत्तेऽदत्तमुच्चयम् ॥२३॥

२३ अतृप्त व्यक्ति भोगों के नाश होने से दुःख पाता है और अतृप्ति से पीडित मनुष्य अदत्त लेता है—चोरी करता है।

तृष्णया ह्यभिभूतस्य अतृप्तस्य परिग्रहे।
माया मृषा च वर्धेते तत्र दुःखान्न मुच्यते ॥२४॥

२४ जो तृष्णा से अभिभूत और परिग्रह से अतृप्त होता है उसके

कपट और झूठ बढ़ते हैं। इस जाल में फंसा हुआ व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं होता।

पूर्व चिन्ता प्रयोगस्य समये जायते भयम।
पश्चात्तापो विपाके च मायाया अनृतस्य च ॥२५॥

२५ जो माया और असत्य का आचरण करता है उसे उनका प्रयोग करने से पहले चिन्ता होती है प्रयोग करते समय भय और प्रयोग करने के बाद पश्चात्ताप होता है।

विषयेषु गतो द्वेषं, दुःखमाप्नोति शोकवान।
द्विष्टचित्तो हि दुःखानां कारणं चिनुते नवम ॥२६॥

२६ जो विषयों से द्वेष करता है वह शोकातुर होकर दुःख पाता है। द्वेष-युक्त मन वाला व्यक्ति दुःख के नए कारणों का संचय करता है।

विषयेषु विरक्तो यः स शोकं नाधिगच्छति।
न लिप्यते भवस्थोपि, भोगश्च पद्मवज्जलं ॥२७॥

२७ जो विषयों से विरक्त होता है वह शोक को प्राप्त नहीं होता। वह संसार में रहता हुआ भी पानी में कमल की तरह भोगों से लिप्त नहीं होता।

इन्द्रियार्था मनोर्थाश्च रागिणो दुःख-कारणम।
न ते दुःखं वितन्वन्ति वीतरागस्य किञ्चन ॥२८॥

२८ जो रागी होता है उसके लिए इन्द्रिय और मन के शब्द आदि विषय दुःख के कारण बनते हैं किन्तु वीतराग को वे कुछ भी दुःख नहीं दे सकते।

विकारमविकारञ्च, न भोगा जनयन्त्यमी।
तेष्वासक्तो मनस्योहि, विकारमधिगच्छति ॥२९॥

२९ शब्द आदि विषय आत्मा में विकार या अविकार उत्पन्न नहीं करते किन्तु जो मनुष्य उनमें आसक्त होता है वह विकार को प्राप्त होता है।

मोहेन प्राक्तो लोको विकृतात्माऽभिनिक्षित ।
क्रोध मान तथा माया लोभ घणां महुप्रजेत ॥३०॥

३० जिसका ज्ञान मोह से आच्छन्न है और जिसकी आत्मा विकृत है वह पढा लिखा होने पर भी बार-बार क्रोध मान माया लोभ और घृणा करता है।

अरतिञ्च रति हास्य भय शोकञ्च मैथुनम्।
स्पृशन् भूयोऽपि मूढात्मा भवत् कारुण्यभाजनम् ॥३१॥

३१ जो मूढ आत्मा संयम में अरति (अप्रेम) और असंयम में रति (प्रेम) हास्य भय शोक और मैथुन का पुन पुन स्पर्श करता है वह दयनीय होता है।

प्रयोजनानि जायन्ते, स्रोतसा वशवर्तिन ।
अनिच्छन्नपि दु खानि प्रार्थी तत्र निमज्जति ॥३२॥

३२ जो इन्द्रियों का वशवर्ती है उसके विभिन्न प्रकार की आवश्यकताएं होती हैं। वह दु ख न चाहता हुआ भी निस्पृह न होने के कारण दु खों को चाहने वाला है। इसीलिए वह उनमें (दुखों में) डूब जाता है।

भवोपग्राहि कर्म, क्षपयित्वाऽऽयुष क्षये।
सर्वदुःखप्रमोक्ष हि, मोक्षमेत्यव्यय शिवम ॥३७॥

३७　वह आयुष्य की समाप्ति होने पर भवोपग्राही (वतमा जीवन को टिकाने में सहायक) वेदनीय नाम, गोत्र और आयुष कर्मों का नाश करके मोक्ष को प्राप्त होता है जहाँ आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है जो शिव है और जिसका कभी व्यय—विनाश नहीं होता।

कष्टायामश्रयत सोऽय, कृत शुद्धय यथाबलम ।
स्वीकृतस्याप्रच्यवाय मोक्षमागस्य सततम ।।४।।

४ इस प्रकार का अर्जित किए हुए कर्मों की शुद्धि के लिए और स्वीकृत मोक्ष माग में निरन्तर चलते रहने के लिए यथाशक्ति कष्टों का आश्रय लेना है।

अकष्टासान्तितो माग कष्टापाते प्रणश्यति ।
कष्टनापान्तिा माग कष्टष्वपि न नश्यति ।।५।।

५ कष्ट सहे बिना जो माग मिलता है वह कष्ट आ पडने पर नष्ट हो जाता है और कष्ट सहकर जो माग प्राप्त किया जाता है वह कष्टों के आ पडने पर भी नष्ट नहीं होता।

बल वीय च सप्रेक्ष्य श्रद्धामारोग्यमात्मन ।
क्षेत्र कालञ्च विज्ञाय तथात्मान नियोजयत ।।६।।

६ अपने बल (शारीरिक सामर्थ्य) वीय (आत्मिक सामर्थ्य) श्रद्धा और आरोग्य को देखकर क्षेत्र और समय को जानकर व्यक्ति उसी के अनुसार अपनी आत्मा को सत्क्रिया में लगाए।

तपस्तथा विधातव्य, चित्त नात भजद् यथा ।
विवेक प्रमखो धर्मो, नाविज्ञो हि शुद्ध्यति ।।७।।

७ तप उसी प्रकार से करना चाहिए जिससे मन आर्त्तध्यान में न फँसे। क्योकि सब धर्मों में विवेक प्रमुख धर्म है। विवेकशून्य व्यक्ति अपने को शुद्ध नहीं बना पाता।

स्वकृत नाम भोक्तव्य, श्रद्धत्ते नति यो जन ।
श्रद्दधानोऽपि यो नव, स्वात्मवीय समुन्नयेत ।।८।।

स कष्टाद् भयमाप्नोति कष्टापाते विषीदति ।
आपन्नां प्राप्य कष्टानां स्वीकृत मार्गमुज्झति ॥६॥

९. जो मनुष्य इस बात में श्रद्धा नहीं रखता कि अपना किया हुआ कर्म भुगतना पड़ता है या इस बात में श्रद्धा रखता हुआ भी अपनी आत्मशक्ति को सत्कार्य में नहीं लगाता वह कष्ट से घबराता है कष्ट आ पड़ने पर खिन्न होता है और कष्टों के आने की आशंका से अपने स्वीकृत मार्ग का त्याग देता है।

मार्गोयं वीर्यहीनानां वत्स! नैव हितावहः ।
धीरः कष्टमकष्टञ्च सम कृत्वा हितं व्रजत् ॥१०॥

१० वत्स! यह वीर्यहीन व्यक्तियों का मार्ग है। यह मुमुक्षु के लिए हितकर नहीं है। धीर पुरुष सुख दुःख को समान मानकर अपने हित की ओर जाता है।

मेघ प्राह—

सुखास्वादाः समे जीवाः सर्वे सन्ति प्रियायुषः ।
अनिच्छन्तोऽसुखं यान्ति न यान्ति सुखमीप्सितम् ॥११॥
क कर्ता सुख-दुःखानां को भोक्ता कश्च घातकः ।
सुखदो दुःखद कास्ति स्याद्वादीश! प्रसाधि माम् ॥१२॥

११-१२ मेघ बोला—सब जीवों को सुख और आयुष्य (जीवन) प्रिय लगता है। वे दुःख नहीं चाहते फिर भी वह मिलता है और सुख चाहते हैं फिर भी वह नहीं मिलता। सुख-दुःख का करने वाला कौन है? और कौन इन्हें भोगता है? कौन है इनका नाश करने वाला? और सुख-दुःख देने वाला कौन है?

भगवान प्राह—

शरीर प्रतिबद्धो सा-ग्रात्मा चरति सततम।
सत्कर्मा क्वापि सत्कर्मा, निष्कर्मा क्वापि सवत ॥१३॥

१३ भगवान् ने कहा—यह आत्मा शरीर मे आबद्ध है। कम शरीर क द्वारा नियन्त्रित है। जहाँ मोह-कम का उदय होता है वहाँ आत्मा का असत् प्रवृत्ति होती है उसस पाप-कम का आकषण होता है। जहाँ मोह कम क्षीण होता है वहाँ आत्मा का सत् प्रवृत्ति होती है उसस पुण्य कम का आकषण होता है। जहाँ मोह कम अनिक मात्रा में क्षीण होता है वहाँ प्रवृत्ति का निरोध होता है उसस कम का ग्रहण नहा होता।

कुवन कर्माणि मोहेन सत्कर्मात्मा निगद्यते।
अर्जयत्यशुभ कम, ज्ञानमाव्रियते तत ॥१४॥

१४ मोह क उदय स जो व्यक्ति क्रिया करता है वह सत्कर्मा मा कहलाता है। सत्कर्मात्मा अशुभ कम का बन्धन करता है और उसस ज्ञान आवृत होता है।

आवृत दशन चापि वीय भवति वारितम।
पौद्गलिकाश्च सयोगा, प्रतिकूला प्रसत्वरा ॥१५॥

१५ अशुभ कम क बन्धन से दशन आवृत होता है वीय (आत्म शक्ति) का हनन होता है और प्रसरणशील पौद्गलिक (भौतिक) सुखो की अनुकूलता नहीं रहती।

उदयेन च तीव्रण ज्ञानावरणकमण।
उदयो जायते तीव्रो दशनावरणस्य च ॥१६॥

तस्य तीव्रोदयेन स्यात मिथ्यात्वमुदित तत ।
अशुभानां पुद्गलानां सग्रहो जायते महान ॥१७॥

१६-१७ ज्ञानावरण कर्म के तीव्र उदय से दर्शनावरण कर्म का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से मिथ्यात्व (दृष्टि की विपरीतता) का उदय होता है और उससे बहुत भार अशुभ कर्मों का सग्रह (बन्धन) होता है।

मिथ्यात्व मोह एवास्ति तेनात्मा विकृता भवन् ।
सुचिर बद्धघने सथ स्वल्प चारित्रमोहत ॥१८॥

१८ मिथ्यात्व मोह का ही एक प्रकार है। उसम आत्मा [illegible] होता है। मिथ्यात्व मोह से आत्मा दीर्घकाल तक [illegible] और चारित्र मोह स उसकी अपेक्षा वह अल्पकाल तक [illegible]

अज्ञानञ्चादर्शनञ्च, विकुरुते न [illegible]
विकाराणाञ्च सर्वथा बाध मोहोऽपि [illegible]

१९ अज्ञान और अदर्शन (ज्ञानावरण और [illegible] का विकृत नहीं बनाते। जितने विकार हैं [illegible] मोह ही है।

ते च तस्योत्तेजनाया [illegible]
परिकरत्व मोहस्य, [illegible]

२० ज्ञानावरण और दर्शनावरण [illegible] कर्म को उत्तेजित करने में निमित्त [illegible] सब में प्रधान है और शेष सब [illegible]

मस्तकेऽय यथा सूच्यां हतायां हन्यते तल ।
एव कर्माणि हन्यते मोहनीय क्षयं गते ॥२१॥

२१ जिस प्रकार सूई से ताड के अग्रभाग का बाधन पर वह नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते ह।

सेनापतौ विनिहते, यथा सेना विनश्यति ।
एव कर्माणि नश्यन्ति, मोहनीये क्षय गते ॥२२॥

२२ जिस प्रकार सेनापति के मारे जाने पर सेना नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते ह।

धूमहीनो यथा वह्नि क्षीयतेऽसौ निरिन्धन ।
एव कर्माणि क्षीयन्ते मोहनीये क्षय गते ॥२३॥

२३ जिस प्रकार धूम और ईंधन-हीन अग्नि बुझ जाती है उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर दूसरे कर्म क्षीण हो जाते ह।

शुष्कमूलो यथा वृक्ष सिच्यमानो न रोहति ।
नव कर्माणि रोहन्ति मोहनीये क्षय गते ॥२४॥

२४ जिसकी जड सूख गई हो वह वृक्ष सींचने पर भी अकुरित नहीं होता उसी प्रकार मोह कर्म के क्षीण होने पर कर्म अंकुरित नहीं होते।

न यथा दग्धबीजानां जायन्ते पुनरकुरा ।
कर्म बीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवाङ्कुरा ॥२५॥

जिस प्रकार जले हुए बीजों से अकुर उत्पन्न नहीं होते उसी

नेद चित्त समादाय, भूयो लोके स जायते ।
सज्ज्ञानेन जानाति, विशुद्ध स्थानमात्मन ॥३०॥

३० निर्मल चित्त वाला व्यक्ति बार-बार संसार में जन्म नहीं लेता। वह जातिस्मृति के द्वारा आत्मा के विशुद्ध स्थान को जानता है।

प्रान्तानि भजमानस्य, विविक्त शयनासनम् ।
अल्पाहारस्य दान्तस्य, दर्शयन्ति सुरा निजम् ॥३१॥

३१ जो निस्सार भोजन एकान्त वसति एकान्त आसन और अल्पाहार का सेवन करता है और जो इन्द्रियों का दमन करता है उसके सम्मुख देव अपने आपको प्रकट करते हैं।

अथो यथास्थित स्वप्न, क्षिप्र पश्यति सवृत ।
सर्व वा प्रतरत्योघ दुःखाच्चापि विमुच्यते ॥३२॥

३२ सवृत आत्मा यथार्थ स्वप्न को देखता है संसार के प्रवाह को तर जाता है और दुःख से मुक्त हो जाता है।

सर्वकामविरक्तस्य, क्षमतो भयभैरवम् ।
अवधिर्जायते ज्ञान, सयतस्य तपस्विन ॥३३॥

३३ जो सब कामों से विरक्त है जो भयानक शब्दों अट्टहासों और परिषहों को सहन करता है जो सयत और तपस्वी है उसे अवधि ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रावारका अन्तराय-वारकाश्च विकारका ।
प्रियाप्रिय निदानानि पुद्गला कर्मसज्ञिता ॥३४॥

पुद्गल आत्मा (ज्ञान-दर्शन) को आवृत करते हैं आत्मा

शक्ति में विघ्न डालते हैं—नष्ट करते हैं आत्मा का विकृत करते हैं और प्रिय और अप्रिय में निमित्त बनते हैं वे कर्म कहलाते हैं।

जीवस्य परिणामेन अशुभेन शुभेन च।
सरागीना पुद्गला हि, कर्मरूपं भजन्त्यलम्॥३५॥

३५ जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से जो पुद्गल सरागीन होते हैं वे कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

तेषामेव विपाकेन, जीवस्तथा प्रवर्तते।
नष्कर्म्येण विना नव क्रम क्वापि विनश्यति॥३६॥

३६ उन्हीं कर्मों के विपाक से जीव वैसे ही प्रवृत्त होता है जैसे उनका संग्रह करता है। नष्कर्म्य (पूर्ण निवृत्ति पूर्ण संवर) के बिना यह क्रम कभी भी नहीं रुकता।

पूर्णनष्कर्म्य-योगस्तु, शैलेश्यामेव जायते।
त ततो कर्मनिर्जीव, क्षणादेव विमुच्यते॥३७॥

३७ पूर्ण नष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था में होता है। यह अवस्था चौदहवें गुण स्थान में प्राप्त होती है। इसमें जीव मन वाणी और शरीर के कर्म का निरोध कर शैल-पर्वत की भांति अकम्प बन जाता है इसलिए इस अवस्था को शलेशी अवस्था कहते हैं। जीव क्षण में (अ इ उ ऋ लृ—इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगे उतने समय में) कर्म मुक्त हो जाता है।

अपूर्ण नाम नष्कर्म्य, तदधोऽपि प्रवर्तते।
नैष्कर्म्येण विना क्वापि, प्रवृत्तिर्न भवच्छुभा॥३८॥

३८ अपूर्ण नष्कर्म्य-योग शैलेशी अवस्था से पहले भी होता है क्योंकि नैष्कर्म्य के बिना कोई भी प्रवृत्ति शुभ नहीं होती।

सत्प्रवृत्तिं प्रकुर्वाणः, कर्म निर्जरयत्यधम।
बध्यमानं शुभं तेन, सत्कर्मेत्यभिधीयते ॥३९॥

३९ जो जीव सत्प्रवृत्ति करता है उसके पाप-कर्म की निर्जरा होती है और शुभ-कर्म का संग्रह होता है इसलिए वह सत्कर्म कहलाता है।

शुभं नाम शुभं गोत्रं, शुभमायुश्च लभ्यते।
वेदनीयं शुभं जीवः, शुभकर्मोदये सति ॥४०॥

४० शुभ कर्मों का उदय होने पर जीव को शुभ नाम, शुभ गोत्र, शुभ आयुष्य और सुख वेदनीय की प्राप्ति होती है (शुभ नाम कर्म के उदय से शरीर का सौंदर्य दक्षता आदि प्राप्त होते हैं। शुभ गोत्र कर्म के उदय से उच्चता लोकपूजनीयता प्राप्त होती है। शुभ आयुष्य कर्म के उदय से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है। सुख वेदनीय के उदय से सुख की अनुभूति होती है।)

अशुभं वा शुभं वापि कर्म जीवस्य बन्धनम्।
आत्मस्वरूपसम्प्राप्तिः बन्धे सति न जायते ॥४१॥

४१ कर्म शुभ हो या अशुभ जीवन के लिए दोनों ही बन्धन हैं। जब तक कोई भी बन्धन रहता है तब तक आत्मा को अपने स्वरूप की संप्राप्ति नहीं होती।

सुखानुगामि यद् दुःखं सुखमन्वेषयञ्जनः।
दुःखमन्वेषयत्येव पुण्यं तत्र विमुक्तये ॥४२॥

४२ सुख के पीछे दुःख लगा हुआ है। जो जीव पौद्गलिक सुख की खोज करता है वह वस्तुतः दुःख की ही खोज करता है क्योंकि पुण्य से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

पुद्गलानां प्रवाहो हि नष्कर्म्येण निरुद्धयते।
त्रुट्यन्ति पाप-कर्माणि, नव कर्म न कुर्वतः ॥४३॥

४३ पुद्गलों का जो प्रवाह आत्मा में प्रवाहित हो रहा है वह नष्कर्म्य (संवर) से रुकता है। जो नए कर्म का संग्रह नहीं करता उसके पूर्वसञ्चित पाप-कर्म का बन्धन टूट जाता है।

अकुर्वतो नवं नास्ति कर्म बन्धन-कारणम्।
नोत्पद्यते न म्रियते, यस्य नास्ति पुराकृतम् ॥४४॥

४४ जो क्रिया नहीं करता (संवृत है) उसके नए कर्मों के बन्धन का कारण शेष नहीं रहता। जिसके पहले किए हुए कर्म नहीं है वह न जन्म लेता है और न मरता है।

शरीरं जायते बद्ध-जीवाद् वीर्यं ततः स्फुरेत्।
ततो योगो हि योगाच्च, प्रमादो नाम जायते ॥४५॥

४५ कर्म बद्ध जीव के शरीर होता है। शरीर में वीर्य (सामर्थ्य) स्फुटित होता है। वीर्य से योग (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति) और योग से प्रमाद उत्पन्न होता है।

प्रमादेन च योगेन जीवोऽसौ बध्यते पुनः।
बद्धकर्मोदयेनेव सुखं दुःखञ्च लभ्यते ॥४६॥

४६ प्रमाद और योग से जीव पुनः कर्म से आबद्ध होता है और बन्धे हुए कर्मों के उदय से वह सुख-दुःख पाता है।

अनुभवन् स्व-कर्माणि, जायते म्रियते जन ।
प्राधान्य नेच्छितानां यत्, फल प्रधानमिष्यते ॥४७॥

४७ कर्म सिद्धान्त के अनुसार इच्छा की प्रधानता नहीं है किन्तु फल की प्रधानता है। अर्थात् मनुष्य जो चाहता है वही नहीं होता किन्तु उसे उसका फल भी भुगतना पड़ता है जो उसने पहले किया है।

सुख-दुःख प्रदो नव तत्त्वत कोपि विद्यते।
निमित्त तु भवेद् बापि तविह परिणामिनि ॥४८॥

४८ सचाई यह है कि संसार में सुख-दुःख का देने वाला कोई दूसरा नहीं है। दूसरा सुख दुःख की प्राप्ति में केवल निमित्त हो सकता है क्योंकि आत्मा परिणामी है। उसमें बाह्य निमित्तों से भी विविध परिणमन होते हैं। इसलिए दूसरा भी आत्मा की सुख दुःख की परिणति में निमित्त बन सकता है।

सुखानामपि दुःखानां क्षयाय प्रयतो भव।
लप्स्यसे तेन निर्द्वन्द्व महानन्दमनुत्तरम ॥४९॥

४९ भगवान् ने कहा—मेघ ! तू सुख और दुःख का क्षीण करने के लिए प्रयत्न कर। सब द्वन्द्वों से मुक्त सबसे प्रधान महान् आनन्द—मोक्ष को प्राप्त होगा।

मनन जल्पन नास्ति, कर्म किञ्चिन्न विद्यते।
विरज्यमानोऽकर्मात्मा भवितु प्रयतो भव ॥५०॥

५० वहाँ (मोक्ष में) मन वाणी और कर्म नहीं होते—न मनन किया जाता है न भाषण किया जाता है और न किञ्चित् मात्र प्रवृत्ति की जाती है। वहाँ आत्मा अकर्मा होती है। मेघ ! तू विरक्त होकर अकर्मात्मा बनने का प्रयत्न कर।

卐 卐

चतुर्थ अध्याय

मेघ प्राह—

सुखाना नाम सर्वेषां, शरीर साधन प्रभो।
विद्यते तन्न निर्वाणे तत्रानन्द कथं स्फुरेत् ॥१॥

१ मेघ बोला—प्रभो! सब सुखों का साधन शरीर है किन्तु निर्वाण में वह नहीं रहता फिर आनन्द की अनुभूति कैसे होती है?

मानसानाञ्च भावानां, प्रकाशो वचसा भवेत्।
अवाच्य कथमानन्द, प्रोल्लसेद ब्रूहि देव! मे ॥२॥

२ मन के भावों का प्रकाशन वाणी के द्वारा होता है। जिन्हें वाणी प्राप्त न हो उनका आनन्द कैसे विकसित हो सकता है? देव! आप बताएं।

चिन्तनं नवीनानां कल्पनानां समुद्भव।
सदा चिन्तन शून्यानां, परितृप्ति कथं भवेत ॥३॥

३ चिन्तन से नई-नई कल्पनाएं उद्भूत होती है। जो सदा चिन्तन से शून्य है उसे परितृप्ति कैसे मिले?

इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि जनयन्ति मन प्रियम्।
इन्द्रियैर विहीनाना मनभूति-सुख कथम् ॥४॥

४ इन्द्रियां जब अपने विषय में प्रवृत्त होती है तब वे मानसिक

प्रियता उत्पन्न करती है। जिन्हें इन्द्रियां प्राप्त न हों उन्हें अनुभव त्य सुख कैसे हो सकता है?

साधनेन विहीनेस्मिन् पथि प्रेरयसि प्रजाः।
विमल कारणं ब्रूहि देव! जिज्ञासुरस्म्यहम् ॥५॥

५ मोक्ष का मार्ग साधनविहीन है—जहां जीवन के साधनभूत मन वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को रोकने का यत्न किया जाता है। फिर आप लोगों को इस ओर चलने की प्रेरणा क्या देते हैं? देव! मैं जिज्ञासु हूं। इस प्रेरणा का कारण मुझे समझाइए।

भगवान् प्राह—

यत्सुखं कायिकं वत्स! वाचिकं मानसं तथा।
अनुभूतं तदस्माभिः रतं सुखमितीष्यते ॥६॥

६ भगवान् ने कहा—वत्स! जो जो कायिक वाचिक और मानसिक सुख है उसका हमने अनुभव किया है। इसलिए वह सुख है—ऐसा हमें प्रतीत होता है।

नानुभूतश्चिदानन्द इन्द्रियाणामगोचरः।
वितर्क्यो मनसा नापि स्वात्मदर्शनसम्भवः ॥७॥

७ किन्तु चिद् के आनन्द का अभी अनुभव नहीं किया है क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है मन की वितर्कणा से परे है। आत्म साक्षात्कार में ही उसका प्रादुर्भाव होता है।

इन्द्रियाणि निवर्तन्ते ततश्चित्तं निवर्तते।
ततात्म-दर्शनं पुण्यं, ध्यान-लीनस्य जायते ॥८॥

८ इन्द्रियां अपने विषयों से निवृत्त होती हैं तब चित्त अपने विषय

से निवृत्त होता है। जहां इन्द्रिय और मन की अपने-अपने विषयों में निवृत्ति होती है वहाँ ध्यान-लीन व्यक्ति को पवित्र आत्मदशा की प्राप्ति होती है।

सहजं निरपेक्षञ्च, निर्विकारमतीन्द्रियम्।
आनन्दं लभते योगी, बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥९॥

९ जिसकी इन्द्रियां का बाह्य पदार्थों में व्यापार नहीं होता वह योगी सहज निरपेक्ष निर्विकार और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त होता है।[1]

आत्मलीनो महायोगी, वर्षमात्रेण संयमी।
अतिक्रामति सर्वेषां तेजोलेश्यां सुपर्वणाम् ॥१०॥

१० जो संयमी आत्मा में लीन और महान् योगी होता है वह वर्ष भर के दीक्षा पर्याय से समस्त देवों के सुखों को लांघ जाता है अर्थात् उनसे अधिक सुखी बन जाता है।[2]

१—(१) सहज आनन्द—स्वभावजन्य आनन्द।
(२) निरपेक्ष आनन्द—जिस आनन्द की प्राप्ति में आत्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा न हो।
(३) निर्विकार आनन्द—पवित्र शुद्ध आनन्द।
(४) अतीन्द्रिय आनन्द—जो आनन्द इन्द्रियों का विषय न हो।

२—देखो अध्याय ६ के श्लोक ३३-४४।

ऐन्द्रिय मानस सौख्य, साबाध क्षणिक तथा।
आत्मसौख्यमनाबाध, शाश्वतञ्चापि विद्यते ॥११॥

११ इन्द्रिय तथा मन के सुख बाधाओं से पूर्ण और क्षणिक होते हैं। आत्म सुख बाधारहित और स्थायी होता है।

सर्व कर्म विमुक्तानां जानतां पश्यतां समम्।
सर्वापेक्षा विमुक्तानां सर्व सङ्गापसारिणाम् ॥१२॥
मुक्तानां यादृश सौख्य तादृश नैव विद्यते।
सम्पन्नसर्वकामानां, नृणामपि सुपर्वणाम् (युग्मम्) ॥१३॥

१२-१३ जो सब कर्मों से विमुक्त हैं, जो एक साथ जानते देखते हैं, जो सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित हैं और जो सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त हैं उन मुक्त आत्माओं का जैसा सुख प्राप्त होता है वैसा सुख सब काम भोगों से सम्पन्न मनुष्यों और देवताओं को भी प्राप्त नहीं होता।

सुखराशिर्हि मुक्तानां सर्वाद्धा पिण्डितो भवेत्।
सोऽनन्तवर्गभक्तः सन् सर्वाकाशेऽपि माति न ॥१४॥

१४ यदि मुक्त आत्माओं का सर्वकालीन सुख राशि एकत्रित हो जाय उसे हम अनन्त वर्गों में विभक्त करें और एक एक वर्ग को आकाश के एक एक प्रदेश पर रखें तो वे इतने वर्ग होंगे कि सारे आकाश में भी नहीं समायेंगे।

यथा मूकः सितास्वाद, कामममनुभवन्नपि।
साधनाभावमापन्नो न वाचा वक्तुमर्हति ॥१५॥

१५ जैसे मूक व्यक्ति को चीनी की मिठास का भली भाँति

अनुभव होता है फिर भी वह उस बोलकर बता नहीं सकता क्योंकि उसके पास अभिव्यक्ति का साधन-वाणी नहीं है।

यथाऽरण्यो जन कश्चिद दृष्ट्वा नगरमुत्तमम।
अदृष्टनगरानयान न तज्ञापयितु क्षम ॥१६॥
तथा हि सहजानद सर्ववाचामगोचरम।
साक्षादनुभवन्नापि न योगी वक्तुमर्हति ॥१७॥

१६-१७ जस जगल में रहने वाला कोई मनुष्य बड नगर को देखकर उन व्यक्तियों को उसका स्वरूप नहीं समझा सकता जिन्होंने नगर न देखा हो। उसी प्रकार योगी सहज आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है किन्तु वह वचन का विषय नहीं है इसलिए वह उस वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता।

भावेऽनिर्वचनीयेऽस्मिन संदेह वत्स! मा कुरु।
बुद्धिवाद ससीमोऽय मनःपर न धावति ॥१८॥

१८ वत्स! इस अनिर्वचनीय भाव में सदेह मत कर। यह बुद्धिवाद सीमित है मन से आगे इसकी पहुँच नहीं है।

सन्त्यमी द्विविधा भावा स्तर्कगम्यास्तथेतरे।
अतर्क्यं तर्कमायुञ्जन बुद्धिवादी विमुह्यति ॥१९॥

१९ भाव (पदार्थ) दो प्रकार के होते हैं—तर्कगम्य और अतर्कगम्य। अतर्कगम्य भाव में तर्क का प्रयोग करने वाला बुद्धिवादी उनमें उलझ जाता है।

इन्द्रियाणां मनसश्च, भावा ये सन्ति गोचरा
तत्र तर्क प्रयोक्तव्य-स्तर्को मत प्रधावति ॥

२० इन्द्रिय और मन के द्वारा जो पदार्थ जाने जाते हैं उन्हें समझने के लिए तर्क का प्रयोग हो सकता है उससे आगे तर्क की गति नहीं है।

हेतु-गम्येषु भावेषु यश्जानस्तत्वपद्धतिम।
अहेतुगम्ये श्रद्धावान सम्यग्दृष्टिर्भवेज्जन ॥२१॥

२१ जो हेतुगम्य पदार्थों में हेतु का प्रयोग करता है और अहेतुगम्य पदार्थों में श्रद्धा रखता है वह सम्यग्दृष्टि है।

आगमश्चोपपत्तिश्च, सम्पूर्णदृष्टिकारणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये ॥२२॥

२२ अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व जानने के लिए आगम (श्रद्धा) और उपपत्ति (तर्क) दोनों अपेक्षित हैं। ये मिलकर ही दृष्टि को पूर्ण बनाते हैं।

इन्द्रियाणां चेतसश्च, रज्यन्ति विषयेषु य।
तथा तु सहजानन्द-स्फुरणा नव जायते ॥२३॥

२३ इन्द्रिय और मन के विषयों में जितनी आसक्ति बनी रहती है उन्हें सहज आनन्द का अनुभव नहीं होता।

सुस्वादाश्च रसा केचित्, गन्धाश्च केचन प्रिया।
सन्तोऽपि हि न लभ्यन्ते, विना यत्नेन मानव ॥२४॥
तथाऽऽत्मनि महान् राशि रानन्दस्य च विद्यते।
इन्द्रियाणां चेतसश्च चापलेन तिरोहित ॥२५॥

२४-२५ कई रस बहुत स्वादपूर्ण हैं और कई गन्ध बहुत प्रिय हैं किन्तु वे तब तक प्राप्त नहीं होते जब तक उनकी प्राप्ति के लिए

आगमानामधिष्ठानं, वेदानां वेद उत्तमः ।
उपादिदेश भगवानात्मानन्दमनुत्तरम् ॥३०॥

३० भगवान ने अनुत्तर आत्मानन्द का उपदेश दिया। वे आगमों के आधार और वेदों (ज्ञानों) में उत्तम वेद थे।

पञ्चम अध्याय

मेघ प्राह—

> प्रभो! तवोपदेशेन, ज्ञातं मोक्षसुखं मया।
> ध्यानेन साधनान्यस्य, ज्ञातुमिच्छामि साम्प्रतम् ॥१॥

१ मेघ बोला—प्रभो! आपके उपदेश से मैंने मोक्ष का सुख जान लिया। अब मैं विस्तार के साथ उसके साधना को जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

> अहिंसा लक्षणो धर्म स्तितिक्षा लक्षणस्तथा।
> यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाहिंसा तत्र सम्भवेत् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—धर्म का पहला लक्षण है अहिंसा और दूसरा लक्षण है तितिक्षा। जो कष्ट में धैर्य नहीं रख पाता वह अहिंसा की साधना नहीं कर पाता।

> सत्त्वान् स एव हन्याद् य, स्याद् भीरु सत्त्ववर्जितः।
> अहिंसावीर्यसम्पन्नो न हन्ति स्व परं [illegible] ॥३॥

३ जीवों का हनन वही करता है जो भीरु और [illegible] है। जिसमें अहिंसा का तेज है वह स्वयं का और [illegible] करता।

२० विषयों के सेवन से वासना दृढ़ होती है और दृढ़ वासना से मोह बढ़ता है। मोह एक व्यूह है। उसमें प्रवेश करने के पश्चात् मुक्ति की उपलब्धि कठिन हो जाती है।

अवैराग्यञ्च सर्वेषां भोगानां मूलमिष्यते।
वैराग्यं नाम सर्वेषां, योगानां मूलमिष्यते ॥२१॥

२१ सब भोगों का मूल अवैराग्य है और सब योगों का मूल है वैराग्य।

विषयाणां परित्यागो, वैराग्येणाशु जायते।
अग्रहश्च भवेत्तस्मादिन्द्रियाणां शमस्ततः ॥२२॥

२२ विषयों का त्याग वैराग्य से ही होता है। जो विषयों का त्याग कर देता है उसके उनका (विषयों का) अग्रहण होता है और अग्रहण से इन्द्रियां शान्त बनती हैं।

मनः स्थैर्यं ततस्तस्माद्, विकाराणां परिक्षयः।
क्षीणेषु च विकारेषु त्यक्ता भवति वासना ॥२३॥

२३ इन्द्रियों की शान्ति से मन स्थिर बनता है और मन की स्थिरता से विकार क्षीण होते हैं। विकारों के क्षीण होने पर वासना नष्ट हो जाती है।

स्वाध्यायश्च तथा ध्यानं, विशुद्धेः स्थैर्यकारणम्।
आभ्यां सम्प्रतिपन्नाभ्यां, परमात्मा प्रकाशते ॥२४॥

२४ स्वाध्याय और ध्यान से विशुद्धि स्थिर होती है और जो इनकी सम्पदा से सम्पन्न है उसके अन्तःकरण में परम आत्मा प्रकाशित हो जाता है।

२९ व्यक्ति में पहले मोक्ष की अभिलाषा अर्थात् संवेग होता है। संवेग का फल है धर्म-श्रद्धा। जब तक व्यक्ति में मुमुक्षुभाव नहीं होता तब तक धर्म के प्रति श्रद्धा नहीं होती। धर्म श्रद्धा का फल है वैराग्य। कोई भी व्यक्ति पौद्गलिक पदार्थों से तब तक विरक्त नहीं होता जब तक उसकी धर्म में श्रद्धा नहीं होती। वैराग्य का फल है ग्रंथि भेद। आसक्ति से जो मोह की गाँठ घुलती है वह वैराग्य से खुल जाता है।

भिन्ने ग्रन्थौ दृढाऽबद्धे, दृष्टिमोहो विशुद्ध्यति।
चारित्र्यञ्च ततस्तस्मात्, शीघ्रं मोक्षो हि जायते ॥३०॥

३० दृढ़ता से आबद्ध ग्रंथि का भेद होने पर दर्शन-मोह की विशुद्धि होती है—दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है। इसके पश्चात् चारित्र की प्राप्ति होती है। चारित्र की पूर्णता प्राप्त होने पर मोक्ष की उपलब्धि होती है।

धर्मश्रद्धा जनयति विरक्तिं क्षणिके सुखे।
गृहं त्यक्त्वाऽनगारत्वं, विरक्तः प्रतिपद्यते ॥३१॥

३१ धार्मिक श्रद्धा से क्षणिक सुखों के प्रति विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है और विरक्त मनुष्य घर छोड़कर अनगार बनता है—मुनि धर्म को स्वीकार करता है।

विरज्यमानः साबाधं नाबाधं प्रयतः सुखम्।
अनाबाधसुखं मोक्षं शाश्वतं लभते यतिः ॥३२॥

३२ जो मुनि बाधाओं से परिपूर्ण सुख से विरक्त होकर निर्बाध सुख को पाने का यत्न करता है वह निर्बाध सुख से सम्पन्न शाश्वत मोक्ष को प्राप्त होता है।

षष्ठ अध्याय

पृथक् छन्दा प्रजा अत्र पृथगवाद क्रियाक्रियम ।
क्रिया श्रद्दधते केचित्केचिदक्रियामपि केचन ॥१॥

१ संसार में विभिन्न रुचि वाले लोग है। उनमें पृथक् पृथक् वाद जन—क्रियावाद आत्मवाद और अक्रियावाद अनात्मवाद आदि प्रचलित है। कई व्यक्ति आत्मा कर्म आदि में श्रद्धा करते है और कई व्यक्ति नहीं करते।

हिंसा-सूतानि दु खानि, भयवरकराणि च ।
पश्यन्व्याकरणे शक्तो पश्यन्त्यपश्यदर्शिना ॥२॥

२ दुःख हिंसा से उत्पन्न होते है और उनमे भय व वैर बढता है—आत्म द्रष्टा के इस निरूपण में वे ही लोग शका करते है जो अनात्मदर्शी हैं।

सुकृताना दुष्कृताना निर्विशेष फल खलु ।
मन्यन्ते विफल कर्म कल्याण पापक तथा ॥३॥

३ अनात्मदर्शी लोग सुकृत और दुष्कृत के फल में अंतर नही मानते और भले बुरे कर्म का भला बुरा फल भी नही मानते।

प्रत्यायान्ति न जीवाश्च न भोगा कर्मणां ध्रुव ।
इत्यास्थातो महेच्छा स्युर्महोद्योग-परिग्रहा ॥४॥

वे घर में रहते हुए भी धर्मोन्मुख होते हैं। उनमें कुछ लोग सुलभ बोधि होते हैं।

दर्शनश्रावकाः केचिद्, व्रतिनो नाम केचन।
अगारमावसन्तोऽपि धर्माराधनतत्पराः ॥९॥

९ कई दर्शन श्रावक (सम्यक्दृष्टि) होते हैं, कई व्रती होते हैं। वे घर में रहते हुए भी धर्म की आराधना करने में तत्पर रहते हैं।

अणुव्रतानि गृह्णन्ति, प्रतिमाः श्रावकोचिताः।
गुणव्रतानि वा शिक्षा-व्रतानि विविधानि च ॥१०॥

१० वे पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा श्रावकों के लिए उचित ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार करते हैं।

एकेभ्यः सन्ति साधुभ्यः गृहस्थाः संयमोत्तराः।
गृहस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः साधवः संयमोत्तराः ॥११॥

११ कई एक भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है परन्तु सभी गृहस्थों से साधुओं का संयम प्रधान होता है।

भिक्षादा वा गृहस्था वा, ये सन्ति परिनिर्वृताः।
तपः संयममभ्यस्य, दिवं गच्छन्ति सुव्रताः ॥१२॥

१२ जो भिक्षु या गृहस्थ शान्त और सुव्रत होते हैं वे तप और संयम का अभ्यास करके स्वर्ग में जाते हैं।

गृही सामायिकाङ्गानि, श्रद्धी कायेन संस्पृशेत्।
पौषधं पक्षयोर्मध्यप्येकरात्रं न हापयेत् ॥१३॥

१३ श्रद्धावान् गृहस्थ काया से सामायिक के अंगों का आचरण

करे माना पक्ष में किए जाने वाले पौषध को एक दिन रात भी न छोड़—कभी न छोड़े।

> एवं शिक्षासमापन्नो, गृहवासेऽपि सुव्रत ।
> मुच्यते छविपर्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥१४॥

१४ इस प्रकार शिक्षा से सम्पन्न सुव्रती (जीव) गृहवास में भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है।

> दीर्घायुष ऋद्धिमन्त, समृद्धा कामरूपिण ।
> अधुनोत्पन्नसंकाशा भूयोऽर्चिमालिसमप्रभा ॥१५॥
> तथा दिवि भवन्त्येते धर्म स्पृशन्ति ये जना ।
> भगवद्विक्षोऽनगारा वा, संयमस्तत्र कारणम् ॥१६॥

१५–१६ जो गृहस्थ या साधु धर्म की आराधना करते हैं वे स्वर्ग में दीर्घायु ऋद्धिमान समृद्ध इच्छानुसार रूप धारण करने वाले अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्तिवान और सूर्य के जैसी दीप्ति वाले देव होते हैं। उसका कारण संयम है।

> सर्वथा संवृतो भिक्षुरन्योरन्यतरो भवेत् ।
> कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तो देवो वापि महर्द्धिकः ॥१७॥

१७ जो भिक्षु सर्वथा संवृत है—कर्म आगमन के हेतुओं का निरोध किए हुए है—वह इन दोनों में से किसी एक अवस्था को प्राप्त होता है। सब कर्मों का क्षय हो जाए तो वह मुक्त हो जाता है अन्यथा समृद्धिशाली देव बनता है।

> यथा त्रयो हि वणिजो मूलमादाय निर्गताः
> एकोऽत्र लभते लाभमेको मूलेन

हारयित्वा मूलमेकमागत स्तत्र वाणिज ।
उपमा व्यवहारेऽसौ, एव धर्मेऽपि बुद्ध्यताम् ॥१६॥

१८–१६ जिस प्रकार तीन बनिये मूल पूजी लेकर व्यापार के लिए चले। एक ने लाभ कमाया एक मूल पूजी लेकर लौट आया और एक ने सब कुछ खो डाला। यह व्यावहारिक उदाहरण है इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए।

मनुष्यत्व भवेन्मूल, लाभ स्वर्गोऽमृत तथा।
मूलच्छेदेन जीवा स्युस्तिर्यञ्चो नारकास्तथा ॥२०॥

२० मनुष्य जन्म मूल पूजी है। स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति लाभ प्राप्ति है। मूल पूजी को खो डालने से जीव नरक या तिर्यञ्च गति को प्राप्त होते हैं।

विमात्राभिश्च शिक्षाभिर्ये नरा गृहसुव्रता ।
आयान्ति मानुषीं योनिं कर्म सत्या हि प्राणिन ॥२१॥

२१ जो लोग विविध प्रकार की शिक्षाओं से गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सुव्रती है (सदाचार का पालन करते हैं) वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते है क्योंकि प्राणी कर्म सत्य होते है—जैसे कर्म करते है वैसे ही फल को प्राप्त होते है।

यथा तु विपुला शिक्षा, ते च मूलमतिसता ।
सत्कर्माणो दिव यान्ति सिद्धिं यान्त्यरजोमला ॥२२॥

२२ जिनके पास विपुल ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शिक्षा है वे मूल पूजी की वृद्धि करते है। वे कर्म युक्त हो तो स्वर्ग को

प्राप्त होते हैं और जब उनके रज और मल का (बन्धन और बन्धन के हेतु का) नाश हो जाता है तो वे मुक्त हो जाते हैं।

अगारमावसन्नोऽपि सर्वप्राणिषु संयतः ।
समता सुव्रतो गच्छन् स्वर्गं गच्छति नाऽमनम् ॥२३॥

२३ घर में निवास करने वाला व्यक्ति सब प्राणियों का स्थूल रूप से यतना करता है जो सुव्रत है और जो समभाव की आराधना करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है किन्तु हिंसा और परिग्रह के बन्धन से सर्वथा मुक्त न होने के कारण वह मोक्ष को नहीं पा सकता।

दुःखावहं इहामुत्र धनाद्यानां परिग्रहः ।
मुमुक्षुः को विदुरुन्मत्तो विद्वानगारमावसेत् ॥२४॥

२४ धन आदि पदार्थों का संग्रह इहलोक और परलोक में दुःखदायी होता है। अतः मुक्त होने की इच्छा रखने वाला और आत्मसाक्षात्कार की भावना रखने वाला कौन ऐसा विद्वान व्यक्ति होगा जो घर में रहे ?

प्रमादं कर्म तत्राहुरप्रमादं तथाऽकर्म ।
तदभावादेशतश्च बालः पण्डितमेव वा ॥२५॥

२५ प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म। प्रमादयुक्त प्रवृत्ति बन्ध का और अप्रमत्तता मुक्ति का हेतु है। प्रमाद और अप्रमाद के योग से व्यक्ति के वीर्य पराक्रम को बाल और पण्डित कहा जाता है तथा अंशतः पण्डित से बालपण्डित व्यक्ति भी बाल और पण्डित कहलाता है।

प्रतीत्याऽविरतिं बालो, द्वयञ्च बालपण्डित ।
विरतिञ्च प्रतीत्यापि, लोके पण्डित उच्यते ॥२६॥

२६ अविरति की अपेक्षा मे व्यक्ति को बाल विरति अविरति की अपेक्षा स बाल पण्डित और विरति की अपेक्षा स पण्डित कहा जाता है ।

सप्तम अध्याय

आज्ञायां मामको धर्म आज्ञायां मामकं तपः ।
आज्ञामूढा न पश्यन्ति, तत्त्वं मिथ्याग्रहोद्धताः ॥१॥

१ भगवान् ने कहा—मेरा धर्म आज्ञा में है मेरा तप आज्ञा में है। जो मिथ्या आग्रह से उद्धत और आज्ञा का मर्म समझने में मूढ़ हैं वे तत्त्व को नहीं देख सकते।

वीतरागेण यद् दृष्टमुपदिष्टं समर्थितम् ।
आज्ञा सा प्रोच्यते बद्धभव्यानामात्मसिद्धये ॥२॥

२ वीतराग ने जो देखा जिसका उपदेश किया और जिसका समर्थन किया वह आज्ञा है—ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुषों ने कहा है। आज्ञा भव्य जीवों के आत्म सिद्धि का हेतु है।

तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनेन प्रवेदितम् ।
रागद्वेषविजेतृत्वाद् नान्यथा वदिनो जिनाः ॥३॥

३ जो जिन (वीतराग) ने कहा वही सत्य और असंदिग्ध है। वीतराग ने राग और द्वेष को जीत लिया इसलिए उनका ज्ञान अयथार्थ नहीं होता और वे अयथार्थ तत्त्व का निरूपण नहीं करते।

आज्ञायामरतिर्माभूत् अनाज्ञायां रतिस्तथा ।
माभूत्तव क्वचिद् यस्मादाज्ञाहीनो विषीदति

४ हे योगिन्! आज्ञा में तेरी अरति (अप्रसन्नता) और अनाज्ञा में रति (प्रसन्नता) कहीं भी न हो, क्योंकि आज्ञाहीन साधक अन्त में विषाद को प्राप्त होता है।

अपरा तीर्थकृत् सेवा, तदाज्ञापालनं परम।
आज्ञाराद्धा विराद्धा च, शिवाय च भवाय च ॥५॥

५ तीर्थंकर की पर्युपासना की अपेक्षा उनकी आज्ञा का पालन करना विशिष्ट है। आज्ञा की आराधना करने वाले मुक्ति को प्राप्त होते हैं और उससे विपरीत चलने वाले संसार में भटकते हैं।

आज्ञाया परमं तत्त्वं, राग-द्वेष विवर्जनम्।
एताभ्यामेव संसारो मोक्षस्तन्मुक्तिरेव च ॥६॥

६ आज्ञा का परम सार है—राग और द्वेष का वर्जन। ये ही संसार (या बन्धन) के हेतु हैं और इनसे मुक्त होना ही मोक्ष है।

आराधको जिनाज्ञाया, संसारं तरति ध्रुवम्।
तस्याविराधको भूत्वा भवाम्भोधौ निमज्जति ॥७॥

७ वीतराग की आज्ञा की आराधना करने वाला निश्चित रूप से संसार को तर जाता है और उसकी विराधना करने वाला भव सागर में डूब जाता है।

आज्ञायां यस्य श्रद्धालुर्मेधावी स इहोच्यते।
असंयमो जिनानाज्ञा जिनाज्ञा संयमो ध्रुवम् ॥८॥

८ जो आज्ञा के प्रति श्रद्धावान् है वह मेधावी है। असंयम की प्रवृत्ति में वीतराग की आज्ञा नहीं है। वीतराग की आज्ञा का अर्थ है—संयम। जहाँ संयम है वहाँ वीतराग की आज्ञा है।

इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जहाँ वीतराग की मात्रा है वहा सयम है।

सयमे जीवन श्रेय सयमे मृत्युरुत्तम ।
जीवन मरण मश्रेय नव स्यातामसयम ॥६॥

६ सयममय जीवन और सयममय मरण श्रेय है। असयममय जीवन और असयममय मरण से मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

हिंसानृत तथास्तेयाब्रह्मचर्य परिग्रहा ।
श्रुव प्रवत्तिरेतेषामसयम इहोच्यते ॥१०॥

१० हिंसा असत्य चौर्य अब्रह्मचर्य और परिग्रह की प्रवृत्ति असयम कहलाती है।

एतेषा विरति प्रोक्त सयमस्तत्त्ववेदिना ।
पूर्णो सा पूर्ण एवासौ अपूर्णाऽपूर्णतोऽन्वत ॥११॥

११ तत्त्वज्ञ ने हिंसा आदि की विरति सयम कहा है। पूर्ण विरति से पूर्ण सयम और अपूर्ण विरति से आंशिक सयम होता है।

पूर्णस्याराधक प्रोक्त सयमी मुनिरुत्तम ।
अपूर्णाराधक प्रोक्त, श्रावकोऽपूर्ण सयमी ॥१२॥

१२ पूर्ण-सयम की आराधना करने वाला सयमी उत्तम मुनि कहलाता है और अपूर्ण-सयम की आराधना करने वाला अपूर्ण सयमी या श्रावक कहलाता है।

राग-द्वेष विनिर्मुक्त्य, विहिता देशना जिन ।
अहिंसा स्यात्तदाभोगा हिंसा तत्र प्रवतनम ॥१३॥

१३ वीतराग ने राग और द्वेष से विमुक्त होने के लिए उपदेश दिया। राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है और उनमें प्रवृत्ति करना हिंसा है।

आरम्भाच्च विरोधाच्च, सकल्पाज्जायते खलु।
तेन हिंसा त्रिधा प्रोक्ता, तत्त्वदर्शनकोविदैः ॥१४॥

१४ हिंसा करने के तीन हेतु हैं—आरम्भ विरोध और सकल्प। अत तत्त्वज्ञानी पण्डितों ने हिंसा के तीन भेद बतलाये हैं—आरम्भजा हिंसा विरोधजा हिंसा और सकल्पजा हिंसा।

कृषी रक्षा च वाणिज्य, शिल्प यद्यच्च वर्त्तय।
क्रियते सारम्भजा हिंसा, दुर्वार्या गृहमेधिना ॥१५॥

१५ कृषि रक्षा व्यापार शिल्प और आजीविका के लिए जो हिंसा की जाती है उसे आरम्भजा हिंसा कहा जाता है। इस हिंसा से गृहस्थ बच नहीं पाता।

आक्रामतां प्रतिरोध प्रत्याक्रमणपूर्वकम्।
क्रियते शक्तियोगेन, हिंसा स्यात् सा विरोधजा ॥१६॥

१६ आक्रमणकारियों का प्रत्याक्रमण के द्वारा बलपूर्वक प्रतिरोध किया जाता है वह विरोधजा हिंसा है।

रागो द्वेष प्रमादश्च, यस्या मुख्य प्रयोजकम्।
हेतुर्गौणो न वा वर्त्तेर्हिंसा सकल्पजास्ति सा ॥१७॥

१७ जिस हिंसा के प्रयोजक—प्रेरक राग द्वेष और प्रमाद होते हैं और जिसमें आजीविका का प्रश्न गौण होता है या नहीं होता, वह 'सकल्पजा हिंसा' है।

सर्वथा सर्वदा सर्वा हिंसा वर्ज्या हि संयतैः ।
प्राणघातो न वा कार्यः, प्रमादाचरणं तथा ॥१८॥

१८ संयमी पुरुषों को सब काल में सब प्रकार से सब हिंसा का वर्जन करना चाहिए, न प्राणघात करना चाहिए और न प्रमाद का आचरण।

व्यर्थं कुर्यान्न चारम्भं, श्राद्धो नाक्रामको भवेत् ।
हिंसां संकल्पजां नूनं वर्जयेद् धर्ममर्मवित् ॥१९॥

१९ धर्म के मर्म को जानने वाला श्रावक निरर्थक हिंसा न करे, आक्रमणकारी न बने और संकल्पजा-हिंसा का अवश्य वर्जन करे।

अहिंसैव विहितोऽस्ति धर्मः संयमिनो ध्रुवम् ।
निषेधः सर्वहिंसाया, द्विविधा वृत्तिरस्य च ॥२०॥

२० संयमी पुरुष के लिए अहिंसा धर्म ही विहित है और सब प्रकार की हिंसा वर्जित है। उसकी चर्या का वर्तन दो प्रकार से होता है—समिति पूर्वक और गुप्ति-पूर्वक। चारित्र की प्रवृत्ति के लिए समितियाँ हैं और अशुभ प्रवृत्ति का निरोध करने के लिए गुप्तियाँ। समिति विधयात्मक अहिंसा है और गुप्ति निषेधात्मक अहिंसा।

अहिंसाया आचरणे, विधानञ्च यथाशक्ति ।
संकल्पजा निषेधश्च श्रावकाय कृतो मया ॥२१॥

२१ श्रावक के लिए मैंने यथाशक्ति अहिंसा के आचरण का विधान और संकल्पजा-हिंसा का निषेध किया है।

अविहिता निषिद्धा च, तृतीया वृत्तिरस्य सा।
सर्व हिंसा-परित्यागी, नासौ तेन प्रवर्तते ॥२२॥

२२ गृहस्थ की तीसरा वृत्ति जो है वह न विहित है और न निषिद्ध। वह सब हिंसा का परित्यागी नहीं होता इसलिए उस वृत्ति का अवलम्बन लेता है।

हिंसा विधानं शक्यं न, तेन साऽविहिता मया।
अनिवार्या जीविकाय, निरोद्धुं शक्यते न तत ॥२३॥

२३ हिंसा का विधान नहीं किया जा सकता इसलिए वह मेरे द्वारा अविहित है और आजीविका के लिए जो अनिवार्य हिंसा होती उसका निरोध नहीं किया जा सकता इसलिए वह अनिषिद्ध है।

द्विविधो गृहिणां धर्म, आत्मिको लौकिकस्तथा।
संवरो निर्जरापूर्व समाजाभिमतोऽपर ॥२४॥

२४ गृहस्थों का धर्म दो प्रकार का होता है— आत्मिक और लौकिक। आत्मिक धर्म के दो प्रकार हैं—संवर और निर्जरा। समाज के द्वारा अभिमत धर्म को लौकिक धर्म कहा जाता है।

आत्मशुद्धय भवदाद्यो, देशित स मया ध्रुवम्।
समाजस्य प्रवृत्त्यर्थ, द्वितीयो वर्त्यते जनै ॥२५॥

२५ आत्मिक धर्म आत्मशुद्धि के लिए होता है। इसलिए मैंने उसका उपदेश किया है। लौकिक धर्म समाज की प्रवृत्ति के लिए होता है। उसका प्रवर्तन सामाजिक जनों के द्वारा किया जाता है।

आत्मधर्मो मुमुक्षूणां, गृहिणाञ्च समोमत ।
पालनापेक्षया भेदो, भेदो नास्ति स्वरूपत ॥२६॥

२६ आत्म धर्म साधु और गृहस्थ दोनों के लिए समान है। धर्म के जो विभाग हैं वे पालन करने की अपेक्षा से किए गए हैं। स्वरूप की दृष्टि से यह एक है उसका कोई विभाग नहीं होता।

पाल्यते साधुभि पूर्ण श्राद्धैश्च यथाक्षमम् ।
यत्र धर्मोहि साधूनां तत्रैव गृहमेधिनाम् ॥२७॥

२७ साधु धर्म का पूर्ण रूप से पालन करते हैं और श्रावक उसका पालन यथाशक्ति (एक निश्चित मर्यादा के अनुसार) करते हैं। जो कार्य करने से साधु को धर्म होता है वही कार्य करने से गृहस्थ को धर्म होता है। ऐसा नहीं होता कि अहिंसा गृहस्थ के लिए धर्म हो और साधु के लिए अधर्म अथवा साधु के लिए धर्म हो और गृहस्थ के लिए अधर्म। तात्पर्य यही है कि गृहस्थ का धर्म साधु के धर्म से भिन्न नहीं किन्तु उसी का एक अंश है।

तीर्थङ्करा अभूवन् ये विद्यन्ते ये च सम्प्रति ।
भविष्यन्ति च ते सर्वे भाषन्ते धर्ममीदृशम् ॥२८॥

२८ जो तीर्थङ्कर अतीत में हुए, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे वे सब ऐसे ही धर्म का निरूपण करते हैं।

सर्वे जीवा न हन्तव्या कार्या पीडाऽपि नाङ्गिनाम् ।
उपद्रवो न कर्तव्यो नाज्ञाप्या बलपूर्वकम् ॥२९॥
न वा परिगृहीतव्या दासकर्म नियुक्तये ।
एष धर्मो ध्रुवो नित्य, शाश्वतो जिनदेशित ॥३०॥

२६ ३० सब जीवों का हनन नहीं करना चाहिए न उन्हें किंचित पीड़ित करना चाहिए न उपद्रव करना चाहिए न बल पूर्वक उन पर शासन करना चाहिए और दास बनाने के लिए उन्हें अपने अधीन नहीं रखना चाहिए —यह धर्म ध्रुव है नित्य है शाश्वत है और वीतराग के द्वारा निरूपित है।

न विरुद्ध्येत केनापि, न बिभियान्न भाययेत्।
अधिकारान्न मुष्णीयान्न जातेर्गर्वमुद्वहेत् ॥३१॥

३१ मनुष्य किसी के साथ विरोध न करे न किसी से डरे और न किसी को डराए न किसी के अधिकारों का अपहरण करे और न जाति का गर्व करे।

न कुलस्य न रूपस्य, न बलस्य श्रुतस्य च।
नैश्वर्यस्य न लाभस्य न मदं तपसः सृजेत् ॥३२॥

३२ मनुष्य कुल का मद न करे रूप का मद न करे बल का मद न करे श्रुत का मद न करे ऐश्वर्य का मद न करे लाभ का मद न करे और तप का मद न करे।

न तुच्छान् भावयेज्जीवान् न तुच्छं भावयेन्निजम्।
सर्वभूतात्मभूतो हि स्यादहिंसापरायणः ॥३३॥

३३ मनुष्य दूसरों को तुच्छ न समझे और अपने को भी तुच्छ न समझे। जो सब जीवों को अपनी आत्मा के समान समझता है वह अहिंसा परायण है।

अहिंसाऽऽराधिता येन, ममाज्ञा तेन साधिता।
आराधितोऽस्मि तेनाहं धर्मस्तेनात्मसात्कृतः ॥३४॥

३४ जिसने महिमा की आराधना की उसने मेरी आत्मा की आराधना की है, उसने मन आराध लिया है और उसने मन को आत्मा में उतार लिया है।

महिमा विद्यते यत्र मदात्मा तत्र विद्यते।
ममात्मायाम्महिमायां न विभेदोऽस्ति कश्चन ॥३५॥

३५ जहाँ महिमा है वहाँ मेरी आत्मा है। मेरी आत्मा और महिमा में कोई भेद नहीं है।

शरणमिव भीतानां, क्षुधितानामिवाशनम्।
तृषितानामिव जलंमहिमा भगवत्यसौ ॥३६॥

३६ यह भगवती महिमा भयभीत व्यक्तियों के लिए शरण, भूखों के लिए भोजन और प्यासों के लिए पानी का सदृश है।

शुद्धं शिवं सुरक्षितं सुदृष्टं सुप्रतिष्ठितम्।
सारभूतञ्च लोकेऽस्मिन् सत्यमस्ति सनातनम् ॥३७॥

३७ इस संसार में सत्य ही सारभूत है, वह शुद्ध है, शिव है, तीर्थङ्करों के द्वारा सम्यक् प्रकार से रक्षा हुआ है, सम्यक् प्रकार से देखा हुआ है, सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित है और सनातन है।

महातृष्णा प्रतीकार, निर्भयञ्च निराश्रयम्।
उत्तमानामभिमतमस्तेयस्य विवर्जनम् ॥३८॥

३८ जो चोरी का वर्जन करता है उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, वह निर्भय और निराश्रय हो जाता है और ऐसा करना उत्तम पुरुषों द्वारा अभिमत है।

कृतध्यानकपाटञ्च, संयमेन सुरक्षितम्।
अध्यात्मदत्तपरिघ, ब्रह्मचर्यमनुत्तमम् ॥३६॥

३६ ब्रह्मचर्य अनुत्तर धर्म है। संयम के द्वारा वह सुरक्षित है। उसकी सुरक्षा का किवाड है ध्यान और उसकी आगल है अध्यात्म।

कृतावम्यमनोभावा, भावनाना विशोधक।
सम्यक्त्व शुद्धमूलोऽस्ति धतिकन्दोऽपरिग्रह ॥४०॥

४० अपरिग्रह से मन का चपलता दूर हो जाता है भावनाओं का पावन होता है। उसका शुद्ध मूल है सम्यक्त्व और धैर्य उसका कन्द है।

प्रवत्तिरास्रव प्रोक्तो, निवृत्ति सवरस्तया।
प्रवत्ति पञ्चधा ज्ञया, निवत्तिश्चापि पञ्चधा ॥४॥

४ प्रवत्ति आस्रव है और निवत्ति सवर। प्रवत्ति के पाच प्रकार है और निवत्ति के भी पाच प्रकार हैं।

मिथ्यात्वञ्चाऽविरतिश्च, प्रमादश्च कषायक ।
सूक्ष्माऽस्माऽध्यवसायश्च, स्पन्दरूपा प्रवृत्तय ॥५॥

५ मिथ्यात्व अविरति प्रमाद और कषाय—ये चार सूक्ष्म अव्यक्त प्रवत्तिया है। इनमे आत्मा के अध्यवसायो का सूक्ष्म स्पन्दन होता है।

योग स्थूला स्थूल-बुद्धि-गम्या प्रवत्तिरिष्यते।
स्वतन्त्रो व्यक्तिहेतुश्च ह्यव्यक्ताना चतसृणाम ॥६॥

६ योग स्थूल व्यक्त प्रवत्ति है। वह स्थल बुद्धि से जाना जा सकता है। वह स्वतन्त्र भी है और पूर्वोक्त चारो सूक्ष्म प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति का हेतु भी है।

मिथ्यात्व वा विरतिर्वा प्रमादो वा कषायक ।
व्यक्तरूपो भवद योगो, मानसो वाचिकोऽङ्गिक ॥७॥

७ मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और इनका व्यक्त रूप योग, ये पाच आस्रव है। इनमें योग तीन प्रकार का है—मानसिक वाचिक और कायिक।

योग शुभोऽशुभा वापि चतस्रो ह्यशुभा ध्रुवम।
निवत्तिवलिता वत्ति, शुभो योगस्तपोमय ॥८॥

८ योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है और चार सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ अशुभ ही होती हैं। निवृत्ति-युक्त वचन शुभयोग कहलाता है और वह तप रूप होता है।

अविरतिर्दुष्प्रवृत्तिः सुप्रवृत्तिस्त्रिधाश्रवः ।
यथाक्रमं निवृत्तिश्च चतुर्धा कर्म देहिनाम् ॥९॥

९ अविरति दुष्प्रवृत्ति सुप्रवृत्ति और निवृत्ति—प्राणियों की ये चार क्रियाएँ हैं। इनमें प्रथम तीन आस्रव हैं और निवृत्ति संवर है।

अशुभैः पुद्गलैर्जीवः बध्यते प्रथमे उभे।
सतातवान् बध्नाति शुभैरभिश्च संसृति ॥१०॥

१० अविरति और दुष्प्रवृत्ति अशुभ पुद्गलों से और सुप्रवृत्ति शुभ पुद्गलों से जीव को आबद्ध करता है। शुभ और अशुभ पुद्गलों का बन्धन ही संसार है।

अशुभांश्च शुभांश्चापि, पुद्गलांस्तत्फलानि च।
विजहाति स्थितात्मासौ मोक्षं यात्यपुनर्भवम् ॥११॥

११ जो स्थितात्मा शुभ अशुभ पुद्गल और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले फल का त्याग करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है। फिर वह कभी जन्म ग्रहण नहीं करता।

अशुभानां पुद्गलानां प्रवृत्त्या शुभया क्षयः।
असयोगं शुभानाञ्च निवृत्त्या जायते ध्रुवम् ॥१२॥

१२ शुभ प्रवृत्ति से पूर्वार्जित-बद्ध अशुभ पुद्गलों (पाप-

का क्षय होता है और उसकी निवृत्ति से कर्म पुद्गलों का संयोग जो आत्मा में होता है वह रुक जाता है।

निवृत्तिं पूर्णतामेति, शैलशीञ्च दशामितः।
अप्रकम्पस्तदा योगी, मुक्तो भवति पुद्गलैः॥१३॥

१३ जब निवृत्ति पूर्णता को प्राप्त होती है तब योगी शैलशी दशा को प्राप्त होकर अप्रकम्प बनता है और पुद्गलों से मुक्त हो जाता है।

सम्यक्त्वं विरतिस्तद्वदप्रमादोऽकषायकः।
अयोगः पञ्चरूपेयं निवृत्तिः कथिता मया॥१४॥

१४ सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—मैंने इस पांच प्रकार की निवृत्ति का निरूपण किया है।

अतत्त्वे तत्त्वसंज्ञानममोक्षे मोक्षधीस्तथा।
अधर्मे धर्मसंज्ञानं, मिथ्यात्वं द्विविधञ्च तत्॥१५॥

१५ अतत्त्व में तत्त्व का संज्ञान करना, अमोक्ष में मोक्ष की बुद्धि करना और अधर्म में धर्म का संज्ञान करना मिथ्यात्व कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं—आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक।

आभिग्रहिकमाख्यातमसत्तत्त्वे दुराग्रहः।
अनाभिग्रहिकं वत्स! अनाना जायतेऽङ्गिनाम्॥१६॥

१६ वत्स! अयथार्थ तत्त्व में यथार्थता का दुराग्रह होना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है और जो यथार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं होता वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है।

तत्त्वे मोक्षे च धर्मे च, यथार्थं प्रत्ययं स्पृशन्।
सम्यक्त्वं तच्च जायते निसर्गादुपदेशतः॥१७॥

१७ तत्त्व मोह और धर्म का जो यथार्थ और स्पष्ट ज्ञान होता है वह सम्यक्त्व कहलाता है। उसकी प्राप्ति निसर्ग से (दर्शन मोहनीय कर्म का विलय होने से) होती है और उपदेश से (गुरु के पास तत्त्वों को जानने से) भी होती है। निसर्ग से प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व को नैसर्गिक और उपदेश से प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व को आधिगमिक कहा जाता है।

आसक्तिश्च पदार्थेषु, व्यक्ताव्यक्तोभयात्मिका।
अविरतिर्विरतिश्च तदासक्ति विवर्जनम् ॥१८॥

१८ पदार्थों में जो व्यक्त या अव्यक्त आसक्ति होती है वह 'अविरति' कहलाता है। पदार्थासक्ति का परित्याग करना विरति है।

अशुभस्यापि योगस्य त्यागो विरतिरिष्यते।
देशत सर्वतश्चापि, यथाबलमुरीकृता ॥१९॥

१९ अशुभ योग का त्याग भी विरति कहलाता है। वह विरति यथाशक्ति (अंशत या पूर्णत) स्वीकार की जाती है।

अनुत्साह स्वात्मरूपे प्रमाद कथितो मया।
जागरूका भवेद् वृत्तिरप्रमादस्त्वयाऽऽत्मनि ॥२०॥

२० अपने आत्मस्वरूप के प्रति जो अनुत्साह होता है उसे मैं प्रमाद कहता हूँ और आत्मस्वरूप के प्रति जो जागरूक मनोभाव होता है उसे मैं अप्रमाद कहता हूँ।

क्रोधो मानं तथा माया, लोभश्चेति कषायक।
एषां निरोध आख्यातोऽकषाय शान्तिकारणम् ॥२१

२१ क्रोध मान माया और लोभ—इन्हें कषाय कहा जाता है। इनके निरोध को मन अकषाय कहा है और वह शान्ति का साधन है।

कायवाङ्मनसां कर्म, योगो भवति देहिनाम।
सर्वासाञ्च प्रवृत्तीनां निरोधोऽयोग इष्यते ॥२२॥

२२ जीवों के मन वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग और सब प्रकार की प्रवृत्तियों के निरोध को अयोग कहा है।

पूर्वं भवति सम्यक्त्वं विरतिर्जायते ततः।
अप्रमादोऽकषायश्चाऽयोगो मुक्तिस्ततो ध्रुवम् ॥२३॥

२३ पहले सम्यक्त्व होता है फिर विरति होती है। उसके पश्चात् क्रमशः अप्रमाद अकषाय और अयोग होता है। अयोगावस्था प्राप्त होने पर आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

अमनोज्ञसमुत्पादं, दुःखं भवति देहिनाम।
समुत्पादमजानाना न हि जानन्ति संवरम् ॥२४॥

२४ जीवों के लिए अमनोज्ञ परिस्थिति उत्पन्न होने का जो हेतु है वह दुःख है। जो इस समुत्पाद (दुःखोत्पत्ति) के हेतु को नहीं जानते वे संवर (दुःख निरोध) के हेतु को भी नहीं जानते।

रागो द्वेषश्च तद्धेतुर्वीतरागदशा सुखम्।
रत्नत्रयी च तद्धेतुरेष योगः समासतः ॥२५॥

२५ दुःख के हेतु राग और द्वेष हैं। वीतराग दशा सुख है और उसका हेतु है रत्नत्रयी—सम्यक् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। योग का यह मैंने संक्षिप्त निरूपण किया है।

नवम अध्याय

मेघ प्राह—

ज्ञानप्रकाशक तत्र मिथ्या सम्यक्त्वकल्पना।
नियत कोऽत्र हेतु स्याद् बोद्धमिच्छामि सम्प्रति ॥१॥

१ मेघ बोला—ज्ञान प्रकाश करने वाला है। फिर मिथ्या ज्ञान और सम्यग्ज्ञान ऐसा जो विकल्प किया जाता है उसका क्या कारण है? अब मैं यह जानना चाहता हूँ।

भगवान प्राह—

ज्ञानस्यावरणेन स्यादज्ञान तत्प्रभावत।
अज्ञानी नव जानाति विनय वा यथातथम् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—ज्ञान पर आवरण आने से अज्ञान होता है। उसके प्रभाव से अज्ञानी जीव सत्य और झूठ को नहीं जान पाता।

नतद् विकुरुते लोकान नापि सस्कुरुते क्वचित।
केवल सहजालोकमावणोति निजात्मन ॥३॥

३ यह आवरण जीवो को न विकृत बनाता है और न सस्कृत। यह केवल अपनी आत्मा के सहज प्रकाश को ढकता है।

ज्ञानस्यावरणं यावद् भावशुद्ध्या विलीयते।
अव्यक्तो व्यक्ततामेति प्रकाशस्तावदात्मनः ॥४॥

४ भावों की विशुद्धि के द्वारा जितना ज्ञान का आवरण विलीन होता है उतना ही आत्मा का अव्यक्त प्रकाश व्यक्त होता है।

पदार्थास्तेन भासन्ते स्फुटं देहभृतामपी।
ज्ञानमात्रमिदं नाम विभागस्याविवक्षया ॥५॥

५ आत्मा के उस प्रकाश से पदार्थ स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होते हैं। यदि उसके विभाग न किये जायें तो उस प्रकाश को सिर्फ ज्ञान ही कहा जा सकता है।

आत्मा ज्ञानमयोऽनन्तं ज्ञानं नाम तदुच्यते।
अनन्तान् गुणपर्यायान्, तत्प्रकाशितुमर्हति ॥६॥

६ आत्मा ज्ञानमय है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह अनन्त गुण और पर्यायों को जानने में समर्थ है।

आवारकघनत्वस्य तारतम्यानुसारतः।
प्रकाशा चाप्रकाशा च संवित्तिः सर्वदात्मनः ॥७॥

७ आवरण की सघनता के तारतम्य से यह आत्मा का ज्ञान कभी प्रकाशी और अप्रकाशी होती है।

उभयालम्बनं ततः [illegible]।
वेदनं विपरीतं तु मिथ्याज्ञानं [illegible] ॥८॥

८ यह ठूंठ है या पुरुष—इस प्रकार का [illegible] 'संशय ज्ञान' कहलाता है। जो [illegible]
जानना विपर्यय नामक मिथ्याज्ञान है।

तार्किकी दृष्टिरेषास्ति दृष्टिरागमिकी परा।
मिथ्यादृष्टिभवज्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं तदीक्षया ॥९॥

९ यह तार्किक दृष्टि का निरूपण है। आगमिक दृष्टि का निरूपण इससे भिन्न है। उसके अनुसार मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का ज्ञान असत् पात्र की अपेक्षा से मिथ्याज्ञान कहलाता है।

आत्मीयेषु च भावेषु नात्मानं यो हि पश्यति।
तीव्रमोहविमूढात्मा, मिथ्यादृष्टिः स उच्यते ॥१०॥

१० जो आत्मीय गुणों में आत्मा को नहीं देखता और तीव्र (अनन्तानुबन्धी) मोह के उदय से जिसकी आत्मा विमूढ़ है वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

यथार्थनिर्णयं सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिष्यते।
दृष्टिः प्रामाणिकी चैषा बहिरागमिकी परा ॥११॥

११ वस्तु का यथार्थ निर्णय करने वाला सम्यग्ज्ञान 'प्रमाण' कहलाता है—यह प्रामाणिक दृष्टि है और आगमिक दृष्टि इससे भिन्न है।

सम्यग् दृष्टभवज्ज्ञानं, सम्यग्ज्ञानं तदीक्षया।
यतमोहो निजं पश्यन्, सम्यग्दृष्टिरसौ भवेत् ॥१२॥

१२ सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का ज्ञान सत् पात्र की अपेक्षा से सम्यग् ज्ञान कहलाता है। जिसका दर्शन-मोह विलीन हो गया है और जो आत्मा को देखता है वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

पदार्थज्ञानमात्रेण, न ज्ञानं सम्यगुच्यते।
आत्मलीनस्वभावं यत् तज्ज्ञानं सम्यगुच्यते ॥१३॥

१३ पदार्थों का ज्ञान लेने मात्र से ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। जिस ज्ञान का स्वभाव आत्मा में लीन होना है वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सदसतोर्विवेके स्वस्य चित्तस्य स्थापने।
स्थितात्मा स्थापयेदन्यान् नास्थिरात्मापि सादरः ॥१४॥

१४ सत् और असत् के विवेक होने पर चित्त की स्थिरता होती है। स्थितात्मा दूसरों को धर्म में स्थापित करता है। जो स्थितात्मा नहीं होता वह आदर होने पर भी यह काम नहीं कर सकता।

भविष्यति मम ज्ञानमध्यतव्यमतो मया।
अजानन् सदसत्तत्त्वं न लोके सत्यमश्नुते ॥१५॥

१५ मुझे ज्ञान होगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो जीव सत् और असत् तत्त्व को नहीं जानता वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

एकाग्रं चित्तस्य स्यामध्यतव्यमतो मया।
अस्थिरात्मा पदार्थेषु जानन्नपि विमुह्यति ॥१६॥

१६ मैं एकाग्र चित्त बनूँगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। अस्थिर आत्मा वाला व्यक्ति पदार्थों को जानता हुआ भी उनमें मूढ़ बन जाता है।

आत्मानं स्थापयिष्यामि, धर्मेऽध्येयमतो मया।
धर्महीना जना लोके, सतन्वते दुःखसन्ततिम् ॥१७॥

१७ अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा—इस उद्देश्य से मुझे अध्ययन करना चाहिए। जो व्यक्ति धर्महीन है वह संसार में दुःख की परम्परा को बढ़ाता है।

स्थित परान् स्थापयिष्ये, धर्मेऽध्ययनतोमया।
आचर्येव सदाचार, प्रस्थापयितुमर्हति ॥१८॥
१८ म स्वय स्थित होकर दूसरों को धम में स्थापित करूँगा—इस उद्देश्य स मुझे अध्ययन करना चाहिए। आचारवान् व्यक्ति ही सदाचार की स्थापना कर सकता है।

प्राणिनामुह्यमानाना, जरामरणवेगत।
धर्मोद्वीप प्रतिष्ठा च गति शरणमुत्तमम ॥१९॥
१९ जरा और मरण के प्रवाह में बहने वाले जीवों के लिए धम द्वीप है प्रतिष्ठा है, गति है और उत्तम शरण है।

दुर्गतौ प्रपतज्जन्तोर्धारणाद् धम उच्यते।
धर्मेणासौ धृतोह्यात्मा, स्वस्वरूपमधिगच्छति ॥२०॥
२० जो दुर्गति में पड़ते हुए जीव का धारण करता है वह धम कहलाता है। अपने स्वरूप को वही प्राप्त होता है जिसकी आत्मा धम के द्वारा धारण की हुई हो।

आत्मतत्त्व प्रकाशाय बन्धनस्य विमुक्तये।
आनन्दाय भगवता धमप्रवचन कृतम ॥२१॥
२१ आत्मा के प्रकाश के लिए बधन की मुक्ति के लिए और आनन्द के लिए भगवान न धम का प्रवचन किया।

शुभाशुभफलैरेभि, कमणा बन्धनध्रुवम।
प्रमाद बहुलो जीव, ससारमनुवतते ॥२२॥
२२ प्रमादी जीव शुभ अशुभ फल वाले कर्मों के इन बधनों से ससार में पयटन करता है।

शुभाशुभफलान्यत्र, कर्मणां बन्धनानि च।
छित्वा मोक्षमवाप्नोति, अप्रमत्तो हि संयति ॥२३॥

२३ अप्रमत्त मुनि कर्मों के बन्धन और उनके शुभ अशुभ फलों का छेदन कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

एकमासिकपर्यायो मुनिरात्मगुणे रतः।
व्यन्तराणां च देवानां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥२४॥

२४ आत्मिक सुख की तुलना में पौद्गलिक सुख निकृष्ट होता है। पौद्गलिक सुख भी सब में समान नहीं होता। मनुष्यों की अपेक्षा देवताओं का पौद्गलिक सुख विशिष्ट होता है। देवताओं की चार श्रेणियाँ हैं —(१) व्यन्तर (२) भवनपति (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भगवान् ने बताया कि आत्मा में लीन रहने वाला मुनि एक मास का दीक्षित होने पर भी व्यन्तर देवों के सुखों को लांघ जाता है—उनसे अधिक सुखी बन जाता है।

द्विमासमुनिपर्याय आत्मध्यानरतो यतिः।
भवनवासि-देवानां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥२५॥

२५ दो मास का दीक्षित मुनि भवनवासी देवों के सुखों को लांघ जाता है।

त्रिमासमुनिपर्याय, आत्मध्यानरतो यतिः।
देवासुरकुमाराणां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत् ॥२६॥

२६ तीन मास का दीक्षित मुनि असुरकुमार देवों के सुखों को लांघ जाता है।

चतुर्मासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यति ।
ज्योतिष्कानां ग्रहादीनां, तेजोलश्या व्यतिव्रजेत ॥२७॥

२७ चार मास का दीक्षित मुनि ग्रह आदि ज्योतिष्क देवों के सुखों को लांघ जाता है।

पञ्चमासिकपर्याय, आत्मध्यानरतो यति ।
सूर्याचन्द्रमसोरेव, तेजोलश्या व्यतिव्रजेत ॥२८॥

२८ पाँच मास का दीक्षित मुनि चांद और सूरज के सुखों को लांघ जाता है।

षाण्मासिकपर्याय आत्मध्यानरतो यति ।
सौधर्मेशानदेवानां, तेजोलश्या व्यतिव्रजेत ॥२९॥

२९ छह मास का दीक्षित मुनि सौधर्म और ईशान देवों के सुखों को लांघ जाता है।

सप्तमासिकपर्याय आत्मध्यानरतो यति ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रतेजोलश्या व्यतिव्रजेत ॥३०॥

३० सात मास का दीक्षित मुनि सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों के सुखों को लांघ जाता है।

अष्टमासिकपर्याय आत्मध्यानरतो यति ।
ब्रह्मलान्तकदेवानां, तेजोलश्या व्यतिव्रजेत ॥३१॥

३१ आठ मास का दीक्षित मुनि ब्रह्म और लान्तक देवों के सुखों को लांघ जाता है।

नवमासिकपर्याय आत्मध्यानरतो यति ।
महाशुक्रसहस्रारतेजोलश्यां व्यतिव्रजेत ॥३२॥

३२ नौ मास का दीक्षित मुनि महाशुक्र और सहस्रार देवो के सुखो को लाघ जाता है।

> दशमासिकपर्याय आत्मध्यानरतो यति ।
> आनतादच्युत यावत तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत ॥३३॥

३३ दस मास का दीक्षित मुनि आनत प्राणत आरण और अच्युत देवो के सुखो को लाघ जाता है।

> एकादशमासगत, आत्मध्यानरतो यति ।
> ग्रैवेयकाणां देवाना तेजोलेश्यां व्यतिव्रजेत ॥३४॥

३४ ग्यारह मास का दीक्षित मुनि नव ग्रैवेयक देवो के सुखो को लाघ जाता है।

> द्वादशमासपर्याय आत्मध्यानरता यति ।
> अनुत्तरोपपातिक-तेजोलेश्या व्यतिव्रजेत ॥३५॥

३५ बारह मास का दीक्षित मुनि पाँच अनुत्तर विमान के देवो के सुखो को लाघ जाता है।

> *तत शुक्ल शुक्लजाति, शुक्ललेश्यामधिष्ठित ।*
> केवली परमानन्द, सिद्धो बुद्धो विमुच्यते ॥३६॥

३६ उसके बाद वह शुक्ल और शुक्ल जाति वाला मुनि शुक्ल लेश्या को प्राप्त होकर केवली होता है परम आनन्द में मग्न सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

अभूवश्च भविष्यन्ति, सुव्रता धर्मचारिणः ।
एतान् गुणानदाहुस्ते, साधकाय शिवङ्करान् ॥३७॥

३७ अच्छे व्रत वाले जो धार्मिक हुए हैं और होंगे उन्होंने साधक के लिए कल्याण करने वाले इन्हीं गुणों का निरूपण किया है या करेंगे।

———

एवं जीवाकुले लोके, साधु संवृतास्रव।
गच्छन् वा नाम तिष्ठन् वा नादत्ते पापकं मलम् ॥४॥

४ इसी प्रकार जिस साधु ने आस्रव का निरोध कर लिया वह इस जीवाकुल लोक में रहता हुआ चाहे चले या खड़ा रहे, पाप-मल को ग्रहण नहीं करता।

मेघ प्राह—

त्यक्तव्यो नाम देहोऽयं पुरापश्चाद् यदा कदा।
तत् किमयं हि भुञ्जान, साधको ब्रूहि मे प्रभो! ॥५॥

५ मेघ बोला—प्रभो! पहले या पीछे जब कभी एक दिन इस शरीर को छोड़ना है तो फिर साधक किस लिए खाये? मुझे बताइये।

बाह्याद्वूर्ध्वं समादाय, नावकाङ्क्षेत् कदाचन।
पूर्वकर्मविनाशार्थमिमं देहं समुद्धरेत् ॥६॥

६ संसार से बहिर्भूत मोक्ष का लक्ष्य बनाकर मुनि कभी भी विषयों की अभिलाषा न करे। केवल पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिए इस देह का धारण करे।

विनाहारं न देहोऽसौ न धर्मो देहमन्तरा।
निर्वाहं तेन देहस्य, कर्तुमाहार इष्यते ॥७॥

७ भोजन के बिना शरीर नहीं टिकता और शरीर के बिना धर्म नहीं होता। इसलिए शरीर का निर्वाह करने के लिए साधक भोजन करे—यह इष्ट है।

क्षुध शान्त्य च सेवार्ये, प्राणसधारणाय च।
सयमाय तथा धर्मचिन्ताय मुनिराहरेत ॥८॥

८ मुनि भूख को शान्त करने के लिए दूसरे साधुओं की सेवा करने के लिए प्राणो का धारण करने के लिए सयम की सुरक्षा के लिए तथा धर्म चिन्तन कर सके वैसी शक्ति को बनाये रखने के लिए भोजन करे।

आतङ्के निष्प्रतिकारे जाताया विरतौ तनौ।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षाय, दयाय प्राणिजातया ॥९॥
सकल्पान सुन्दृढत्, कर्मणा शोधनाय च।
आहारस्य परित्याग कर्तुमर्होऽस्ति सयते ॥१०॥

९ १० असाध्य रोग उत्पन्न हो जाय शरीर से विरक्ति हो जाय—ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जीव हिंसा से बचने के लिए सकल्पो को सुदृढ करने के लिए और कृत-कर्म की शुद्धि—प्रायश्चित्त के लिए मुनि को भोजन का परित्याग करना उचित है।

अल्पवारञ्च भुञ्जानो वस्तून्यल्पानि सख्यया।
मात्रामल्पाञ्च भुञ्जानो, मिताहारो भवेद यति ॥११॥

११ जो मुनि एक या दो बार खाता है सख्या में अल्प वस्तुएँ और मात्रा में अल्प खाता है, वह मितभोजी है।

जित स्वादो जितास्तेन, विषया सकला परे।
रसो यस्यात्मनि प्राप्त, स रस जतुमर्हति ॥१२॥

१२ जिसने स्वाद को जीत लिया उसने सब विषयो को जीत लिया। जिसे आत्मा में रस की अनुभूति हो गयी वही पुरुष रस (स्वाद) को जीत सकता है।

न वामाद् हनुतस्तावत्सचारयेच्च दक्षिणम।
दक्षिणाच्च तथा वाममाहरन्मुनिरात्मवित ॥१३॥

१३ आत्मविद् मुनि भोजन करते समय स्वाद लेने के लिए दायें जवडे से बाया ओर तथा बायें जवडे से दायी ओर भोजन का स्चार न करे।

स्वादाय विविधान योगान, न कुर्यात खाद्यवस्तुषु।
सयोजना परित्यज्य, मुनिराहारमाचरेत ॥१४॥

१४ मुनि स्वाद के लिए खाद्य पदार्थों में विविध प्रकार के सयोग न मिलाए। इस सयोजना-दोष का वर्जन कर भोजन करे।

अप्रमाण न भुञ्जीत, न भुञ्जीताप्यकारणम।
श्लाघा कुर्वन भुञ्जीत निन्दन्नपि न चाहरेत ॥१५॥

१५ मात्रा से अधिक न खाय निष्कारण न खाय, सरस भोजन की सराहना और नीरस भोजन की निन्दा करता हुआ न खाय।

मेघ प्राह—

जायन्ते ये म्रियन्ते ते, मृता पुनर्भवन्ति च।
तत्र किं जीवन श्रेय, अथवा मरण भवेत ॥१६॥

१६ मेघ बोला—जिनका जन्म होता है उनकी मृत्यु होती है, जिनकी मृत्यु होती है उनका वापस जन्म होता है। ऐसी स्थिति में जीना श्रेय है या मरना?

भगवान् प्राह—

सयमासयमाभ्यातु, जीवन द्विविध भवेत।
सयत जीवन श्रेय न श्रेयोऽसयत पुन ॥१७॥

२१ ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्राणों का नाश करना प्रशस्त मरण कहलाता है क्योंकि वहाँ राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती।

यस्य किञ्चिद् व्रतं नास्ति स जनो बाल उच्यते।
व्रताव्रतं भवेद् यस्य, स प्रोक्तो बालपण्डितः ॥२२॥

२२ जिसके कुछ भी व्रत नहीं होता वह जीव 'बाल' कहलाता है। जिसके व्रताव्रत दोनों होते हैं (पूर्ण व्रत भी नहीं होता और पूर्ण अव्रत भी नहीं होता) वह 'बाल-पण्डित' कहलाता है।

पण्डितः स भवेत् प्राज्ञो यस्य सर्वव्रतं भवेत्।
सुप्तः सुप्तश्च जाग्रच्च जाग्रदुक्तविधानतः ॥२३॥

२३ जिसके पूर्ण व्रत होता है वह प्राज्ञ पुरुष 'पण्डित' कहलाता है। पूर्वोक्त रीति के अनुसार पुरुषों के तीन प्रकार होते हैं—(१) सुप्त (२) सुप्त-जागृत और (३) जागृत। अव्रती को सुप्त व्रताव्रती को सुप्त-जागृत और सर्वव्रती को जागृत कहा जाता है।

एवमधर्मपक्षेऽपि, धर्माधर्मेऽपि कश्चन।
धर्मपक्षे स्थितः कश्चित् त्रिविधो विद्यते जनः ॥२४॥

२४ पक्ष तीन होते हैं—(१) अधर्म-पक्ष (२) धर्माधर्म पक्ष, (३) धर्म-पक्ष। इन तीनों पक्षों में अवस्थित होने के कारण पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) अधर्मी (२) धर्माधर्मी और (३) धर्मी।

हव्यवाहः प्रमथ्नाति जीर्णं काष्ठं यथा ध्रुवम्।
तथा कर्म प्रमथ्नाति मुनिरात्मसमाहितः ॥२५॥

२५ जिस प्रकार अग्नि जीर्ण काठ को भस्म कर डालती है उसी प्रकार समाधियुक्त आत्मा वाला मुनि कर्मों को भस्म कर डालता है।

नरको नाम नास्तीति नव सज्ञा निवेशयेत।
स्वर्गोऽपि नाम नास्तीति नव सज्ञां निवेशयेत् ॥२६॥

२६ नरक नहीं है—इस प्रकार की सज्ञा धारण न करे। स्वर्ग नहीं है—इस प्रकार की सज्ञा धारण न करे।

पञ्चेन्द्रियवध कृत्वा महारम्भपरिग्रहो।
मासस्य भोजनञ्चापि, नरक याति मानव ॥२७॥

२७ जो पुरुष पचेंद्रिय का वध करता है महा आरम्भ (हिंसा) करता है महा-परिग्रही होता है और जो मास भोजन करता है वह नरक में जाता है। पचेंद्रिय-वध आदि चार कारण नरक में जाने के हेतु बनते हैं।

सरागसयमो तत, सयमासयमस्तथा।
अकामनिर्जरा बालतप स्वर्गस्य हेतव ॥२८॥

२८ स्वर्ग में जाने के चार कारण हैं—(१) सराग सयम—अवीतराग का सयम, (२) सयमासयम—अपूर्ण सयम (३) अकाम निर्जरा—जिसमें मोक्ष का उद्देश्य न हो वस तप से होने वाली आत्म-शुद्धि और (४) बाल-तप—अज्ञानी का तप।

विनीत सरलात्मा च अल्पारम्भपरिग्रह।
सानुक्रोशोऽमत्सरा च जनो याति मनुष्यताम ॥२९॥

२९ जो विनीत व सरल होता है अल्प आरम्भ व अल्प-परिग्रह

वाला होना है दयालु और मात्सर्य रहित होना है, वह मनुष्य का मनुष्य जन्म को प्राप्त होता है।

> मायाञ्च निकृतिं कृत्वा, कृत्वा चासत्यभाषणम् ।
> कूट तोल च मानञ्च जायस्तिर्यग् गतिं व्रजेत् ॥३०॥

३० तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) की गति में उत्पन्न होने के चार कारण हैं —(१) कपट (२) प्रवञ्चना (३) असत्य भाषण और (४) कूट तोल माप।

> शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां संसारमनुवर्तते ।
> प्रमादबहुलो जीवोऽप्रमादेनान्तमृच्छति ॥३१॥

३१ प्रमादी जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा ससार में अनुवर्तन करता है और अप्रमादी जीव संसार का अन्त कर देता है।

> स्वयं बुद्धा भवन्त्यके केचित् स्युर्बुद्धबोधिता ।
> प्रत्येकं बुद्धा केचित स्युर्बोधिर्नानायनाभवेत् ॥३२॥

३२ संसार का अन्त करने वालों में कई जीव स्वयं बुद्ध (उपदेश आदि के बिना स्वतः बोध पाने वाला) होते हैं कई बुद्ध-बोधित (दूसरों के द्वारा प्रतिबुद्ध) होते हैं और कई प्रत्येक-बुद्ध (किसी एक घटना विशेष से बोध पाने वाला) होते हैं। इस प्रकार बोधि की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं।

> योग्यताभेदतः पुंसां रुचिभेदो हि जायते ।
> रुचिभेदाद् भवेद् भेद, साधनाप्यावलम्बने ॥३३॥

३३ सब मनुष्यों की योग्यता समान नहीं होती। इसलिए

उनकी रुचि भी समान नहीं होती। रुचि भेद के कारण साधना के विभिन्न मार्गों का अवलम्बन लिया जाता है।

बुद्धा कश्चिद् बोधका स्युः कश्चिद् बुद्धा न बोधकाः ।
आत्मानुकम्पिनः कश्चित् केचिद् द्वयानुकम्पकाः ॥३४॥

३४ कई स्वयं-बुद्ध भी होते हैं और दूसरों का बोध (उपदेश) भी देते हैं। कई स्वयं-बुद्ध होते हैं पर दूसरों को बोध नहीं देते। कई केवल आत्मानुकम्पी होते हैं और कई उभयानुकम्पी (अपनी व दूसरों की दोनों की अनुकम्पा करने वाला) होते हैं।

क्षपिताशेषकर्मा हि मुनिर्भवाद् विमुच्यते।
मुच्यते चान्यलिङ्गोऽपि गृहिलिङ्गोऽपि मुच्यते ॥३५॥

३५ अशेष कर्मों का क्षय करने वाला मुनि भव-मुक्त होता है। मुक्त होने में आत्म शुद्धि की प्रधानता है लिंग (वेष) की नहीं। जो वीतराग बनता है वह मुक्त हो जाता है भले फिर वह अन्यलिंगी (जैनेतर साधु के वेष में) हो या गृहिलिंगी (गृहस्थ के वेष में) हो।

प्रत्ययार्थञ्च लोकस्य नानाविधविकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थञ्च लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥३६॥

३६ लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु हैं इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गयी है। जीवन-यात्रा को निभाना और मैं साधु हूं ऐसा ध्यान आते रहना इस लोक में वेष धारण के प्रयोजन हैं।

अथ भवेत् प्रतिज्ञा तु मोक्षसद्भावसाधिका।
ज्ञानञ्च दर्शनं चैव चारित्रं चैव निश्चये ॥३७॥

३७ यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय दृष्टि से उसके साधन ज्ञान दर्शन और चारित्र ही है।

संसार

गणाय न परिजानाति, संसार परिवर्तते स ।
सणाय न विजानाति संसार परिवर्तिनं च ॥३८॥

३८ जिसमें जिज्ञासा है वह ससार को जानता है। जिसमें जिज्ञासा का अभाव है वह ससार को नहीं जानता।

पूर्वोत्थिता स्थिरा एवं पूर्वोत्थिताः पतन्त्यपि ।
नोत्थिता न पतन्त्येव, भङ्गः शून्यश्चतुर्थकः ॥३९॥

३९ कई पहले साधना के लिए उद्यत होते हैं और अन्त तक उसमें स्थिर रहते हैं। कई पहले साधना के लिए उद्यत होते हैं और बाद में गिर जाते हैं। कई साधना के लिए न उद्यत होते हैं और न गिरते हैं। इसका चतुर्थ भंग शून्य होता है—बनता ही नहीं।

(१) पूर्वोत्थित और पश्चाद् स्थित
(२) पूर्वोत्थित और पश्चाद् निपाती
(३) नपूर्वोत्थित और न पश्चाद् निपाती

यत् सम्यक् तद् भवन्मौनं यन्मौनं सम्यगस्ति तत् ।
मुनिर्मौनं समादाय धुनीयाच्च शरीरकम् ॥४०॥

४० जो सम्यक् है वह मौन (श्रामण्य) है और जो मौन है वह सम्यक् है। मुनि मौन को स्वीकार कर शरीर मुक्त बने।

———

एकादश अध्याय

प्रत्यात्मा चेतनात्रो भिन्न पौद्गलिकगुण ।
स्वतन्त्र करणे भोगे, परतन्त्रश्च कर्मणाम ।।१।।

१ आत्मा का स्वरूप चेतना है। वह पौद्गलिक गुणों से भिन्न है। वह कर्म करने में स्वतन्त्र और उनका फल भोगने में परतन्त्र है।

ध्रध्रुव नाम ससारे दुखाना कामभालये।
परिभ्राम्यन्च प्राणी क्लेशान् प्रजन्यतर्कितान ।।२।।

२ यह ससार क्षणिक दुखों का आलय (घर) है। इसमें परिभ्रमण करता हुआ प्राणी अतर्कित क्लेशों को प्राप्त होता है।

पुनर्भवी स्ववृत्तैन, विचित्र धरते वपु ।
कृत्वा नानाविध कर्म नानागोत्रासु जातिषु ।।३।।

३ जीव अपने आचरण से बार-बार जन्म लेता है और विचित्र प्रकार के शरीरों को धारण करता है तथा विभिन्न प्रकार के कर्मों का उपार्जन कर विभिन्न गोत्र और जातियों में उत्पन्न होता है।

प्रहाण्यात्कर्मणा किञ्चिदानुपूर्व्या कदाचन ।
जावा शोधिमनुप्राप्ता आप्रजन्ति मनुष्यताम ।।४।।

४ कर्मों की हानि होने-होते जीव क्रमश: विशुद्धि को प्राप्त होते हैं और विशुद्ध जीव मनुष्यगति में जन्म लेते हैं।

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥५॥

५ मनुष्य का जन्म मिलने पर भी उस धर्म की श्रुति (सुनना) दुर्लभ है जिसे सुनकर लोग तप, क्षमा और अहिंसक वृत्ति को स्वीकार करते हैं।

कदाचिच्छ्रवणे लब्धे श्रद्धा परमदुर्लभा।
श्रुत्वा नैयायिकं मार्गं भ्रश्यन्ति बहवो जनाः ॥६॥

६ कदाचित् धर्म को सुनने का अवसर मिलने पर भी उस पर श्रद्धा होना अत्यन्त कठिन है। न्याय-संगत मार्ग को सुनकर भी बहुत से लोग भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रुतिञ्च लब्ध्वा श्रद्धाञ्च वीर्यं पुनः सुदुर्लभम्।
रोचमाना अप्यनेके नाचरन्ति कदाचन ॥७॥

७ धर्म-श्रवण और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी वीर्य (संयम में शक्ति का प्रयोग करना) दुर्लभ है। कई लोग श्रद्धा रखते हुए भी धर्म का आचरण नहीं करते।

लब्ध्वा मनुष्यतां धर्मं शृणुयाच्छ्रद्दधीत यः।
वीर्यं स च समासाद्य, धुनीयाद् दुःखमर्जितम् ॥८॥

८ मनुष्य जन्म को प्राप्त होकर जो धर्म को सुनता है, श्रद्धा रखता है और संयम में शक्ति का प्रयोग करता है वह व्यक्ति अर्जित दुःखों को प्रकम्पित कर डालता है।

शोधि ऋजुभूतस्य, धर्म शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाण परम याति घृतसिक्त इवानल ॥९॥

९ शुद्धि उसे प्राप्त होती है जो सरल होता है। धर्म उसी आत्मा में ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिस आत्मा में धर्म होता है वह घी से सींची हुई अग्नि की भांति परम दीप्ति को प्राप्त होता है।

निजत्या तास सञ्जाते परिपाके भवस्थिते ।
मोहक क्षपयन् कर्म, विमल लभतेऽमलम ॥१०॥

१० नियति के द्वारा भवस्थिति के पकने पर जीव मोह कर्म का नाश करता हुआ विमल विचारणा को प्राप्त होता है।

तत्किं नाम भवेत्कर्म यनाऽह स्याम दुःखभाक् ।
जिज्ञासा जायते तस्मा ततो मार्गो विमृश्यते ॥११॥

११ ऐसा वह कौन-सा कर्म है जिसका आचरण कर मैं दुःखी न बनू ? मनुष्य में ऐसी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसके पश्चात वह मार्ग की खोज करता है।

सत्यधारात्मलानो सौ सत्यान्वेषणतत्पर ।
स्थूलसत्य समुत्साय सूक्ष्म तदवगाहते ॥१२॥

१२ जो व्यक्ति सत्यधी (सत्य बुद्धिवाला) होता है जो आत्म-लीन होता है और जो सत्य के अन्वेषण में तत्पर होता है वह स्थूल सत्य को छोड़कर सूक्ष्म सत्य का अवगाहन करता है।

माता पिता स्वसा भ्राता भार्या पुत्रास्तथौरसा ।
त्राणाय मम नालते लुप्यमानस्य कर्मणा ॥१३॥

१३ वह यह चिन्तन करता है कि अपने कर्मों से पीड़ित होने पर

मेरी सुरक्षा के लिए माता पिता पतोहू भाई पत्नी और औरस (सगे) पुत्र कोई भी समर्थ नहीं है।

अध्यात्म सर्वत सर्व, दृष्ट्वा जीवान् प्रियायुष ।
न हन्ति प्राणिनः प्राणान् भयाद्वैरात् उपरतः क्वचित ॥१४॥

१४ सभी जीव सब ओर से सुख चाहते हैं और उन्हें जीवन प्रिय है यह देखकर प्राणियों के प्राणों का वध न करे तथा भय और वैर से निवृत्त बने—अभय बने।

आदान नरक दृष्ट्वा मोह तत्र न गच्छति।
आत्मारामः स्वयं स्वस्मिन्लीन शान्ति समश्नुते ॥१५॥

१५ परिग्रह को नरक मानकर जो उसमें मोह नहीं करता और स्वयं अपने में लीन रहता है वह आत्मा में रमण करने वाला व्यक्ति शान्ति को प्राप्त होता है।

इहैके नाम मन्यन्ते अप्रत्याख्याय पापकम।
विदित्वा तत्त्वमात्मानो सर्वदु खाद्विमुच्यते ॥१६॥

१६ कई लोग यह मानते हैं कि पापों का परित्याग करना आवश्यक नहीं होता। जो आत्मा तत्त्व को जान लेता है वह सब दुखों से विमुक्त हो जाता है।

वदन्तश्चाप्यकुर्वन्तो बन्धमोक्षप्रवदिन ।
आश्वासयन्ति चात्मान वाचा वार्येण केवलम ॥१७॥

१७ जो केवल कहते हैं किन्तु करते नहीं बधन और मुक्ति का निरूपण करते हैं किन्तु बधन से मुक्ति मिले वैसा उपाय नहीं करते वे केवल वचन के वीर्य से अपने आपको आश्वासन दे रहे हैं।

न चित्रा त्रायते भाषा, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णा पापकर्मभ्यो, बाला पण्डितमानिनः ॥१८॥

१८ जो अज्ञानी हैं जो अपने आपको पण्डित मानते हैं और जो पापकर्म में खिन्न बने हुए हैं जिनका आचरण में विश्वास नहीं है, जो कोरे ज्ञानवादी हैं, उन्हें विचित्र प्रकार की भाषाएँ पाप से नहीं बचा सकतीं और विद्या का अनुशासन भी नहीं बचा सकता।

ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव चरित्रं च तपस्तथा।
एष मार्ग इति प्रोक्तः जिनैः प्रवरदर्शिभिः ॥१६॥

१६ ज्ञान दर्शन चारित्र और तप—इनका समन्वय मोक्ष का मार्ग है। श्रेष्ठ दर्शन वाले वीतराग ने ऐसा कहा है।

ज्ञानेन ज्ञायते सर्वं विश्वमेतच्चराचरम्।
श्रद्धीयते दर्शनेन दृष्टिमोहविशोधिना ॥२०॥

२० ज्ञान से यह समस्त चराचर विश्व जाना जाता है। दर्शन मोह की विशुद्धि से उत्पन्न होने वाले दर्शन से उसके प्रति यथार्थ विश्वास होता है।

भाविदुःखनिरोधाय धर्मो भवति संवरः।
कृतदुःखविनाशाय धर्मो भवति सत्तपः ॥२१॥

२१ संवर (चारित्र) धर्म के द्वारा भावी दुःख का निरोध होता है और तप के द्वारा किये हुए दुःखों का नाश होता है।

सर्वस्य दृष्टिमोहः च ग्रन्तः भवति मानवः।
अप्रमत्तोऽकषायः च ततोऽयोगी विमुच्यते ॥२२॥

२२ पहले दृष्टि (दर्शन) मोह का संवरण होता है फिर मनुष्य क्रमशः व्रती अप्रमत्त अकषायी (क्रोधादि रहित) और अयोगी (मन वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करने वाला) होकर मुक्त होता है।

संवृतात्मा नवं कर्म नादत्तेऽनास्रवो यतिः।
अकर्मा जायते कर्म, क्षपयित्वा पुरार्जितम् ॥२३॥

२३ संवृत (संवर युक्त) आत्मा वाला यति नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता। उसके आस्रव (कर्म बंधने की वृत्ति) रुक जाते हैं और वह पूर्व अर्जित कर्मों का नाश कर, अकर्मा—कर्म रहित हो जाता है।

अतीतं वर्तमानं च भविष्यच्चिरकालिकम्।
सर्वथा मनुते भावान् दर्शनावरणान्तकः ॥२४॥

२४ वह ज्ञानावरणीय कर्म का अन्त करने वाला मुनि चिरकालीन, अतीत वर्तमान और भविष्य को सर्वथा जान लेता है और वह सभी जीवों का रक्षक होता है।

अन्तकृद् विचिकित्सायाः, सर्वं जानात्यनीदृशम्।
अनीदृशस्य शास्ता हि यत्र तत्र न विद्यते ॥२५॥

२५ जो सन्देह का अन्त करने वाला है वह तत्त्वों को वैसे जानता है जैसे दूसरा नहीं जान पाता। असाधारण तत्त्व का शास्ता जहां तहाँ नहीं मिलता।

स्वाख्यातमनेनाऽस्ति सत्यमेतत् सनातनम्।
सदा सत्येन सम्पन्नो, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥२६॥

२६ यही सुभाषित है, यही सनातन सत्य है कि व्यक्ति सदा सत्य में सम्पन्न बन और सब जीवों के प्रति मैत्री का व्यवहार करे।

वेरं करोति वेराणि, ततो वेरेण रज्यति।
पापागमानि तानीह दुक्खसंवासणानि च ॥२७॥

२७ जो व्यक्ति वैरी है वह वैर करता है और वैर करने-करते उसमें रक्त हो जाता है। वैर पापार्जन का हेतु है और अन्तत उसका परिणाम दु ख प्राप्ति होता है।

सहि चक्षुर्मनुष्याणां काङ्क्षामन्तं नयति य।
लगति चक्कमन्तेन वहत्यन्तेन च क्षर ॥२८॥

२८ जो कांक्षा (सन्देह) का अन्त करता है वह मनुष्यों का नेत्र है। रथ का पहिया अन्त (धुरी के किनारे) में चलता है और उसका भी अन्त से चलता है।

धीरा अन्तेन गच्छन्ति मयन्ययत सतो भवन।
अन्त कुर्वति दुक्खाना सम्बोधिरति दुर्लभा ॥२९॥

२९ धीर पुरुष अन्त से चलते हैं—हर वस्तु की गहराई में पहुँचते हैं इसलिए वे भव का अन्त पा लेते हैं और दु खों का अन्त करते हैं। इस प्रकार की सबोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

यो धम्म शुद्धमाख्याति, प्रतिपूर्णमनोरमम्।
अनीदृशस्य यत्स्थान तस्य जन्मकथा कुत ॥३०॥

३० जो परिपूर्ण अनुपम और शुद्ध धर्म का निरूपण करता है वह असाधारण पुरुष है। उसे ऐसा विशिष्ट स्थान मिलता है कि फिर उसके लिए जन्म मरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मगुप्त सनान्तात, छिन्नस्रोता अनास्रव ।
स धम शुद्धमारव्याति, प्रतिपूर्णमनीदृशम ।।३१।।

३१ जो आत्म-गुप्त है सदान्त है जिसने कम आने के स्रोत का निरोध किया है और जो अनास्रव (आस्रव रहित) हो गया है वह परिपूर्ण अनुपम और शुद्ध धम का निरूपण करता है।

य मत सवसाधूनां, त मत शल्यकतनम ।
साधयित्वा च तत्तीर्णा नि शल्या अमिनां वरा ।।३२।।

३२ जो माग सब साधुओं द्वारा अभिमत है वही माग शल्य का उच्छेद करनेवाला है उसकी साधना से बहुत से उत्तमपुरुष नि शल्य बनकर भव समुद्र को तर गये।

पण्डितो व यमासाद्य निर्घाताय प्रवतकम ।
धुनीयात सञ्चित कम नव कम न वा सृजत् ।।३३।।

३३ पण्डित व्यक्ति कम-क्षय के लिए स प्रवत्तिरूप शक्ति को प्राप्त कर पूव कृत कम का नाश करे और नये कम का सजन न करे।

एकत्वभावनादेव नि सङ्गत्व प्रजायते ।
नि सङ्गो जनमध्येऽपि स्थितो लप न गच्छति ।।३४।।

३४ एकत्वभावना स नि सगता—निर्लिप्तता उत्पन्न होती है। नि सग मनुष्य जनता के बीच रहता हुआ भी कम से लिप्त नहीं होता।

न प्रिय कुरुते कस्याप्यप्रिय कुरुते न य ।
सवत्र समतामेति समाधिस्तस्य जायते ।।३५।।

२५ जो किसी का प्रिय भी नहीं करता और अप्रिय भी नहीं करता सब जगह समता का सेवन करता है वह समाधि को प्राप्त होता है।

ऽसंविनानि मुह्यन्ते, नाद्भुतेषु ह्यसंवृता।
असंवृता विमह्यन्ति, मूढा यान्ति चल मन ॥३६॥

३६ असंवृत (नियमनरहित) व्यक्ति मुग्ध होता है। जो मूढ है उनका मन चंचल होता है। व उन विषयों में सन्देह करते हैं जो सन्देह के स्थान नहीं हैं और उन विषयों में सन्देह नहीं करते जो सन्देह के स्थान हैं।

स्वकृत विद्यते दु ख स्वकृत विद्यते सुखम।
अबौद्धिमार्जित दु ख बोधिना हि प्रणीयते ॥३७॥

३७ दुःख अपना किया हुआ होता है और सुख भी अपना किया हुआ होता है। अबोधि से दु ख अर्जित होता है और बोधि से उसका नाश होता है।

हिंसाप्रसूतानि दुःखानि, भयवैरकराणि च।
पश्य व्याहृतमोक्षस्य मोहनाशाय — दर्शन ॥ ३८॥

३८ हिंसा से दु ख उत्पन्न होते हैं। वे भय और वैर की वृद्धि करते हैं। मोह के द्वारा अपरस्पान (प्रद्रष्टा) देख तू दृष्टा की वाणी को देख।

अमरप्रज्ञापन यो हि [illegible]।
हिंसया मन्यते शान्तिं, स प्रज्ञो

३६ जो धम के निरूपण को विपरीत रूप से ग्रहण करता है और हिंसा से शान्ति की उपलब्धि मानता है वह मनुष्य मूढ़ कहलाता है।

असारे नाम ससारे, सार सत्य हि केवलम।
तपश्या एवं ~~सत्त पस्सन्तेव~~ पश्यन्ति, न पश्यन्ति परे जना ॥४०॥

४० इस सारहीन ससार में केवल सत्य ही सारभूत है। सत्य को देखना वाला ही देखना है। जो सत्य को नहीं देखने वे कुछ भी नहा देख पाते।

सिंह यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्त
इचरन्ति दूर परिशङ्कमाना।
समीक्ष्य धर्म मतिमान मनुष्यो
दूरेण पाप परिवर्जयच्च ॥४१॥

४१ जसे घास चरने वाले क्षुद्र मृग सिंह स डरते हुए उससे दूर रहते हैं उसी प्रकार मतिमान् पुरुष धर्म को समझ कर दूर से पाप का वर्जन करे।

द्वादश अध्याय

मघ प्राह—

कि ज्ञय किञ्च हेय स्यादुपादेयञ्च किं विभो !।
शाश्वते नाम लोकेऽस्मिन्, किमनित्यञ्च विद्यते ॥१॥

१ मघ बोला—विभो ! ज्ञय हेय और उपादेय क्या है ? और इस शाश्वत जगत में अशाश्वत क्या है ?

भगवान प्राह—

धर्मोऽधर्मस्तथाकाश कालश्च पुद्गलस्तथा।
जीवो द्रव्याणि षनानि ज्ञयदृष्टिरसौ भवत् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—धर्म (अस्तिकाय), अधर्म (अस्तिकाय) आकाश काल पुद्गल और जीव ये छह द्रव्य हैं—यह ज्ञय दृष्टि है।

जीवाजीवौ पुण्यपाप, तथास्रवश्च सवर।
निर्जरा बन्धमोक्षौ च ज्ञयदृष्टिरसौ भवत ॥३॥

३ आत्मा है वह शाश्वत है पुनर्भवी है बन्ध है और बन्ध का का कारण है मोक्ष है और मोक्ष का कारण है—यह ज्ञेय दृष्टि है।

अस्त्यात्मा शाश्वतो बन्धस्तदुपायश्च विद्यते।
अस्ति मोक्षस्तदुपायो, ज्ञेयदृष्टिरसौ भवत् ॥४॥

४ जाव, अजीव पुण्य पाप आश्रव सवर निजरा, वध और मोक्ष य नौ तत्त्व ह—यह नयदृष्टि है।

बन्ध पुण्य तथा पापमाश्रव कर्मकारणम।
भवबाजमिद सव, हेयदृष्टिरसौ भवेत ॥५॥

५ वध पुण्य पाप और कर्मागमन का हेतुभूत आश्रव ह य सब ससार के बाज ह—यह हेयदृष्टि है।

निरोध कर्मणामस्ति सवरो निर्जरा तथा।
कर्मणां प्रक्षयश्चवोपादेय दृष्टिरिष्यते ॥६॥

६ कर्मों का निरोध करना सवर कहलाता है और कर्मों के क्षय से होने वाली आत्म शुद्धि निजरा कहलाती है—यह उपादेय दृष्टि है।

आत्मलीन मनोऽमूढ योगो योगिभिरिष्यते।
मनोगुप्ति समाधिश्च साम्य सामायिक तथा ॥७॥

७ जो मन आत्मा में लीन एव अमूढ है उसे योगीजन योग कहते ह। मनोगुप्ति समाधि साम्य और सामायिक—ये सब योग के ही विविध रूप ह।

एकाग्र्य मनसश्चाद्य, भवच्चान्ते निरोधनम।
मन समितिगुप्त्योश्च, सर्वो योगो विलीयते ॥८॥

८ ध्यान की दो अवस्थायें होती ह—एकाग्रता और निरोध। प्रारम्भिक दशा में मन की एकाग्रता होती है और अन्तिम अवस्था में उसका निरोध होता है। मन के सम्यक प्रवतन (समिति) और उसके निरोध (गुप्ति) में सारा योग समा जाता है।

ध्यान और मौन के अतिरिक्त शरीर की समस्त क्रियाओं का त्याग कर बैठना) पर्यंकासन वीरासन (दाएं पैर को बाएं साथल (जांघ) पर रखना और बाएं पैर को दाया साथल पर रखना तथा पर्यंकासन की तरह हाथ रखना) पद्मासन (जंघा के मध्य भाग में दूसरी जंघा को मिलाना) गोदोहिका (गाय को दुहते समय जैसे बैठा जाता है वैसे बैठना) और उकडू बैठना—ये सब काय-क्लेश है।

इन्द्रियाणां मनसश्च विषयेभ्यो निवर्तनम।
स्वस्मिन् नियोजनं तेषां प्रतिसंलीनता भवेत् ॥१३॥

१३ इन्द्रिय और मन को विषयों से निवृत्त कर अपने स्वरूप में उनका नियोजन किया जाता है वह 'प्रतिसंलीनता' है।

विशुद्धये कृतदोषाणां प्रायश्चित्तं विधीयते।
आलोचनं भवत्यस्य गुरोः पुरः प्रकाशनम् ॥१४॥

१४ किये हुए दोषों की शुद्धि के लिए जो क्रिया—अनुष्ठान किया जाता है उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं। गुरु के समक्ष अपने दोषों का निवेदन करना 'आलोचन' है।

प्रमादादशुभं योगं, गतस्य च शुभं प्रति।
क्रमणं जायते तत्त, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१५॥

१५ प्रमादवश अशुभयोग में जाने पर पुनः शुभ योग में लौट आना 'प्रतिक्रमण' कहलाता है।

अभ्युत्थानं नमस्कारो भक्तिः शुश्रूषणं गुरोः।
ज्ञानादीनां त्रिनयनं, विनयः परिकथ्यते ॥१६॥

१६ गुरु आदि बड़ों के आने पर खड़ा होना, नमस्कार करने भक्ति शुश्रूषा करने और ज्ञान आदि का बहुमान करने को 'विनय' कहते हैं।

आचार्य शैक्ष्य रुग्णानां सघस्य च गणस्य च।
आसेवन यथास्थाम वैयावृत्यमुदाहृतम् ॥१७॥

१७ आचार्य शैक्ष (नवदीक्षित), रुग्ण गण और सघ की यथाशक्ति सेवा करने को 'वैयावृत्य' कहते हैं।

वाचना प्रच्छना चैव तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्मकथा स्वाध्याय पञ्चधा मत ॥१८॥

१८ स्वाध्याय पाच प्रकार का होता है—

(१) वाचना (पढ़ना)
(२) प्रच्छना (पूछना)
(३) परिवर्तना (कण्ठस्थ को हुए पाठ को पुनरावृत्ति करना)
(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ चिन्तन करना)
(५) धर्म कथा करना।

एकाग्रचिन्तन योगनिरोधो ध्यानमुच्यते।
धर्म्य चतुर्विध तत्र शुक्ल चापि चतुर्विधम् ॥१६॥

१६ एकाग्र चिन्तन एवं मन वचन और काया के निरोध को ध्यान कहते है। धर्म्य ध्यान के चार प्रकार —(१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय और (४) सस्थान विचय। शुक्ल ध्यान के भी चार प्रकार —

(१) पृथक्त्ववितर्क सविचार (२) एकत्ववितर्क अविचार,
(३) सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति (४) समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति।

अर्हतां देशितां दृष्टिमालम्ब्य क्रियते यदा।
पदार्थचिन्तनं यत्तत् आज्ञाविचय उच्यते ॥२०॥

२० अरिहन्त के द्वारा उपदिष्ट दृष्टि को आलम्बन बनाकर जो पदार्थ का चिन्तन किया जाता है वह 'आज्ञा विचय' कहलाता है।

सर्वेषामपि दुःखानां रागद्वेषौ निबन्धनम्।
ईदृशं चिन्तनं यत्तत्, अपायविचयो भवेत् ॥२१॥

२१ राग और द्वेष सब दुःखों के कारण हैं—इस प्रकार का जो चिन्तन किया जाता है वह 'अपाय विचय' कहलाता है।

सुखान्यपि च दुःखानि विपाकः कृतकर्मणाम्।
किं फलं कस्य चिन्तेति, विपाकविचयो भवेत् ॥२२॥

२२ सुख और दुःख किये हुए कर्मों के विपाक (फल) हैं किस कर्म का क्या फल है इस प्रकार का जो चिन्तन किया जाता है वह 'विपाक विचय' कहलाता है।

लोकाकृतेश्च तद्वर्ति भावानां प्रकृतेस्तथा।
चिन्तनं क्रियते यत्तत् संस्थानविचयो भवेत् ॥२३॥

२३ लोक की आकृति उसमें होने वाले पदार्थ और प्रकृति का जो चिन्तन किया जाता है वह 'संस्थान विचय' कहलाता है।

उन्मादो न भवेद् बुद्धेरहृद्वचन-चिन्तनात्।
अपायचिन्तनं कृत्वा जनो दोषाद् विमुच्यते ॥२४॥

२४ अरिहन्त की वाणी के चिन्तन में बुद्धि का उन्माद नहीं होता—यह आज्ञा विचय का फल है। राग और द्वेष के परिणाम चिन्तन से मनुष्य दोष से मुक्त बनता है—यह 'अपाय विचय' का फल है।

अशुभकर्मणां रतिं याति, विपाकं परिचिन्तयन्।
वैचित्र्यं जगतो दृष्ट्वा, नासक्तिं भजते पुमान्॥२५॥

२५ कर्म विपाक का चिन्तन करने वाला मनुष्य अशुभ कार्य में रति (आनन्द) का अनुभव नहीं करता—यह विपाक विचय का फल है। जगत् की विचित्रता को देखकर मनुष्य संसार में आसक्त नहीं बनता—यह 'संस्थान विचय' का फल है।

विशुद्धं जायते चित्तं लेश्याऽपि विशुद्ध्यते।
अतीन्द्रियं भवेत्सौख्यं धर्मध्यानेन देहिनाम्॥२६॥

२६ धर्म ध्यान के द्वारा प्राणियों का चित्त शुद्ध होता है, लेश्या शुद्ध होती है और अतीन्द्रिय (आत्मिक) सुख की उपलब्धि होती है।

विजहाति शरीरं यो धर्मचिन्तनपूर्वकम्।
अनासक्तः स प्राप्नोति स्वर्गं गतिमनुत्तराम्॥२७॥

२७ जो धर्म चिन्तन पूर्वक शरीर को छोड़ता है वह अनासक्त व्यक्ति स्वर्ग या अनुत्तर गति-मोक्ष को प्राप्त होता है।

आद्यप्रथम संहननवतां पूर्वविदां भवेत्।
शुक्लस्य द्वयमाद्यन्तु स्याच्च केवलिनोऽन्तिमम्॥२८॥

२८ पृथक्त्ववितर्क सविचार—वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान के सहारे किया जाने वाला चिन्तन। किसी एक वस्तु को अपने ध्यान का विषय बनाकर दूसरे सब पदार्थों से उसके भिन्नत्व का

चिन्तन करना पृथक्त्व वितर्क है और उसमे एक अर्थ (अवस्था) से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर, अर्थ से शब्द पर, शब्द से अर्थ पर एवं एक योग से दूसरे योग पर परिवर्तन होता है इसलिए वह सविचार है।

एकत्ववितर्क अविचार—जिसमें एकत्व का चिन्तन किया जाता है वह एकत्व वितर्क है और इसमें परिवर्तन नहीं होता इसलिए यह अविचार है।

उक्त दोनो भेद उत्तम-संहनन—वज्र ऋषभ-नाराच संहनन वाले तथा पूर्व धरों के अधिकारी मुनि में पाये जाते हैं।

सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति—तेरहवें गुण स्थान के अन्त में जब शरीर की सूक्ष्म क्रिया बाकी रहती है वह अवस्था सूक्ष्मक्रिया है और उसका पतन नहीं होता अतः वह अप्रतिपाति है।

समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति—अयोगावस्था—चतुर्दश गुण स्थान की अवस्था को समुच्छिन्नक्रिया कहते हैं और उसकी निवृत्ति नहीं होती इसलिए वह अनिवृत्ति है।
उक्त दोनो भेद केवली में पाये जाते हैं।

> सूक्ष्मक्रियोऽप्रतिपाती, समुच्छिन्नक्रियस्तथा।
> क्षपयित्वा हि कर्माणि, क्षणेनैव विमुच्यते ॥२९॥

२९ सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रिय केवली ध्यान में कर्मों का क्षय कर क्षण भर में मुक्त हो जाता है।

> अन्तर्मुहूर्तमात्रञ्च, चित्तमेकाग्रतिष्ठति।
> छद्मस्थानां ततश्चित्तं वस्त्वन्तरेण गच्छति ॥३०॥

३० छद्मस्थ का ध्यान एक विषय में अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है। फिर वह दूसरे विषय में चला जाता है।

स्थितात्मा भवति ध्याता, ध्यानमेकाग्र्यमुच्यते ।
ध्येय आत्मा विशुद्धात्मा, समाधि फलमुच्यते ॥३१॥

३१ ध्यान के चार अंग हैं—ध्याता ध्यान ध्येय और समाधि। जिसकी आत्मा स्थित होती है वह ध्याता—ध्यान करने वाला—होता है। मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है, विशुद्ध आत्मा (परमात्मा) ध्येय है और उसका फल है समाधि।

उपधानाञ्च भावाना, शोधादीना परिग्रह ।
परित्यक्तो भवेद् यस्य, व्युत्सर्गस्तस्य जायते ॥३२॥

३२ उपधि—वस्त्र-पात्र भक्त-पान और शोध आदि—के परिग्रह के परित्याग का व्युत्सर्ग कहते हैं। व्युत्सर्ग उस व्यक्ति के होता है जिसके उक्त परिग्रह परित्यक्त होता है।

अनित्यो नाम ससारस्त्राणाय कोऽपि नो मम।
भव भ्रमति जीवोऽसौ एकोऽहं देहत पर ॥३३॥
अपवित्रमिद गात्र कर्माश्रयण [illegible]।
निरोध कर्मणा [illegible] [illegible] ॥३४॥
धर्मोऽहि मुक्तिमार्गोऽस्मि [illegible] ।
दुर्लभावनने [illegible] द्वादश [illegible] ॥३५॥

३३-३५ १ ससार अनित्य है—अनित्य [illegible],
२ मेरे लिए कोई शरण नहीं है—[illegible]
यह जीव ससार में भ्रमण कर रहा है—[illegible]

४ म एक हूँ—एकत्व भावना

५ म दह स भिन्न हूँ—अन्यत्व भावना

६ शरीर अपवित्र है—अशौच भावना

७ आत्मा म कर्मों को आकृष्ट करन की योग्यता है—आश्रव भावना

८ कर्मों का निरोध किया जा सकता ह—सवर भावना

९ तप क द्वारा कर्मों का क्षय किया किया जा सकता है—तप भावना,

१० मुक्ति का माग धम है—धम भावना

११ लाक पुरुषाकृति वाला है—लोक भावना और

१२ बाधि दुलभ है—बाधि-दुलभ भावना।

य बारह भावनाए हं।

सुहृद सदजीवा म प्रमोदो गुणिषु स्फुरेत।
करुणाकम खिन्नषु माध्यस्थ दोषकारिषु ॥३६॥

३६ १३ सब जीव मरे मित्र ह—मत्री भावना

१४ गुणी व्यक्तियो में मेरा अनुराग हो—प्रमोद भावना

१५ कर्मों स आत्त बन हुए जीव दुख स मुक्त बनें—करुणा भावना और

१६ दुश्चेष्टा करने वाले व्यक्तियो के प्रति उपेक्षा का भाव रखना—माध्यस्थ भावना।

इन चार भावनाओ को मिला दन पर सब भावनाए सोलह होती ह।

४१ जो नाव आस्रविणी है—छेद वाली है—वह समुद्र के उस पार नहीं पहुँच पाती और जो निरास्रविणी है—छेद रहित है—वह समुद्र के उस पार चला जाता है।

सम्यग्-दर्शन - सम्पन्न श्रद्धावान् योगमर्हति।
विचिकित्सां समापन्न, समाधि नव गच्छति ॥४२॥

४२ जो सम्यग् दर्शन से सम्पन्न और श्रद्धावान है वह योग का अधिकारी है। जो संशयशील रहता है वह समाधि को प्राप्त नहीं होता।

आस्तिक्य जायते पूर्वमास्तिक्याज्जायते शम।
शमाद् भवति संवेगो निर्वेदो जायते तत ॥४३॥
निर्वेदादनुकम्पास्यादेतानि मिलितानि च।
श्रद्धावतो लक्षणानि जायन्ते सत्यसेविन ॥४४॥

४ ४४ पहले आस्तिक्य (आत्मा कर्म आदि में विश्वास) होता है आस्तिक्य से शम (क्रोध आदि का उपशम) होता है शम से संवेग (मोक्षकी अभिलाषा) होती है संवेग से निर्वेद (संसार से वैराग्य) होता है और निर्वेद से अनुकम्पा (सबभूत दया उत्पन्न) होती है—ये सब सत्य-सेवी श्रद्धावान् (सम्यक्दृष्टि) के लक्षण है।

योगी व्रतेन सम्पन्नो, न लोकस्यैषणाञ्चरेत।
भावशुद्धि क्रियाश्चापि, प्रयुञ्जन् शिवमश्नुते ॥४५॥

४५ महाव्रतो से सम्पन्न योगी लोकैषणा में नहीं फंसता। वह मानसिक शुद्धि और सत्क्रियाओ का [illegible] करता हुआ [illegible] प्राप्त होता है।

मेघ प्राह—

क्व न स्यादावृतं चित्तं, क्व न प्रतिहतं भवेत्।
मूढञ्च जायते क्व न, ज्ञातुमिच्छामि सर्ववित्॥५०॥

५० मेघ बोला—हे भगवन्! चित्त किससे आवृत्त होता है? किससे प्रतिहत होता है? और किससे मूढ़ बनता है? मैं जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

आवृतं जायते चित्तं, ज्ञानावरण-योगतः।
हतं स्यादन्तरायेण, मूढं मोहेन जायते॥५१॥

५१ भगवान ने कहा—चित्त ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त होता है, अन्तराय कर्म से प्रतिहत होता है और मोह से मूढ़ बनता है।

स्व-सन्मत्याऽपि विज्ञाय, धर्मसारं निशम्य वा।
मतिमान् मानवो नूनं, प्रत्याचक्षीत पापकम्॥५२॥

५२ बुद्धिमान मनुष्य धर्म के सार को अपनी सद्बुद्धि से जानकर या सुनकर पाप का प्रत्याख्यान करे।

उपायान् यान् विजानीयादायुःक्षेमस्य चात्मनः।
क्षिप्रमेव यतिस्तेषां शिक्षां शिक्षेत पण्डितः॥५३॥

५३ संयमशील पण्डित अपने जीवन के कल्याणकर उपायों को जाने और उनका शीघ्र अभ्यास करे।

यथा कूर्मः स्वकाङ्गानि स्वके देहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मेन समाहरेत्॥५४॥

त्रयोदश अध्याय

मेघ प्राह—

> किं साध्यं साधनं, किञ्च कस्तदाऽस्य साध्यते।
>
> साध्यसाधनसज्ञाने, जिज्ञासा मम वर्तते ॥१॥

१ मेघ बोला—साध्य क्या है? साधन क्या है? साध्य की साधना कौन करता है? भगवन्! मैं साध्य और साधन के विषय में जानना चाहता हूँ।

भगवान् प्राह—

> प्रश्नो वत्स! दुरूहोऽयं, नानात्वेन विभज्यते।
>
> नानारुचिरयं लोको, नानात्वं प्रतिपद्यते ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—वत्स! यह प्रश्न दुरूह है। यह अनेक प्रकार से विभक्त होता है। लोग भिन्न भिन्न रुचि वाले होते हैं अतः साध्य भी अनेक हो जाते हैं।

> विद्यते नाम लोकोऽयं, न वा लोकोऽपि विद्यते।
>
> एवं सशयमापन्न, साध्यं प्रति न धावति ॥३॥

३ लोक है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य (नवें श्लोक में बताए जाने वाले) की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

विद्यते नाम जीवोऽथ न वा जीवोऽपि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः साध्यं प्रति न धावति॥४॥

४ जीव है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

विद्यते नाम कर्मेदं, न वा कर्मापि विद्यते।
एवं संशयमापन्नः, साध्यं प्रति न धावति॥५॥

५ कर्म है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

अस्ति कर्मफलं यद्वा न वा तद्वा विद्यते।
एवं संशयमापन्नः साध्यं प्रति न धावति॥६॥

६ कर्म का फल भोगना पड़ता है या नहीं—इस प्रकार संदिग्ध रहने वाला व्यक्ति साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता।

अस्ति जीवोऽस्ति कर्मापि कर्म कर्मफलं ध्रुवम्।
एवं निश्चयमापन्नः साध्यं प्रति प्रधावति॥७॥

७ जीव है कर्म है और कर्मफल भुगतना पड़ता है—इस प्रकार का आस्थावान् है वह साध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

निराबाधश्च निर्विघ्नो निर्मोहो दृष्टिमानसौ।
आत्मा स्यादिदमर्थानि साध्यमात्मविदो ध्रुवम्॥८॥

८ आत्मविद् (आत्मा का जानने वाले) पुरुषों के लिए निराबाध निर्विघ्न—निरन्तराय निर्मोह और दृष्टिसम्पन्न—सम्यग्दर्शनयुक्त आत्मा ही साध्य है।

आवरणस्य विघ्नस्य, मोहस्य वृत्तचारित्रयो।
निरोधो जायते तेन सयमः साधनं भवेत्॥९॥

९ सयम से आवरण विघ्न दृष्टिमोह और चारित्र मोह का निरोध होता है इसलिए वह आत्मा की प्राप्ति—साध्य की सिद्धि का साधन है।

आत्मानं सयतं कृत्वा, सततं श्रद्धयान्वितः।
आत्मानं साधयेच्छान्तः साध्यं प्राप्नोति स ध्रुवम्॥१०॥

१० जो श्रद्धासम्पन्न पुरुष अपने को सयमी बना आत्म-साधना करता है वह शान्त—कषाय रहित पुरुष साध्य को प्राप्त होता है।

आत्मैव परमात्मास्ति रागद्वेषविवर्जितः।
शरीरमुक्तिमापन्नः परमात्मा भवेदसौ॥११॥

११ आत्मा ही परमात्मा है। वह राग और द्वेष या शरीर से मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है।

स्थूलदेहस्य मुक्तयाऽसौ, भवान्तरं प्रधावति।
अन्तरालगतिं कुर्वन्, ऋजु वक्रां यथोचितम्॥१२॥

१२ औदारिक या वैक्रिय शरीर स्थूल कहलाते हैं। इनसे मुक्त होने पर आत्मा भवान्तर में जाते समय जो गति करती है वह अन्तराल-गति कहलाती है। अन्तराल-गति के दो प्रकार हैं—ऋजु और वक्र। जो आत्मा समश्रेणि में उत्पन्न होती है वह ऋजु गति करता है और जो विषमश्रेणि में उत्पन्न होती है वह वक्र-गति करती है।

यावत सूक्ष्म शरीर स्यात, तावन्मुक्तिन जायते।
पूर्णसयमयोगन, तस्य मक्ति प्रजायते ॥१३॥

१३ जब तक सूक्ष्म-शरीर (तजस और कामण) विद्यमान रहता है तब तक आत्मा मुक्त नहीं होती। आत्मा की मुक्ति पूर्ण सयम से प्राप्त होती है।

बाध्यमानो ग्राम्यधर्म, रूक्ष भुञ्जीत भोजनम।
प्रकुर्यादवमौदर्यमूर्ध्व स्थान स्थितो भवेत् ॥१४॥

१४ मुनि ग्राम्यधम (काम विकार) से पीडित होने पर रूक्ष भोजन करे मात्रा मे कम खाए और कायोत्सर्ग करे।

नक्त्र निवसेन्नित्य ग्राम ग्राममनुव्रजत।
व्यच्छेद भोजनस्यापि कुर्याद रागनिवत्तय ॥१५॥

१५ मुनि एक स्थान में सदा निवास न करे गाव-गाव में [illegible] करे और राग की निवत्ति के लिए भोजन को भी छोड़े।

श्रद्धा कश्चिद व्रजत्पूर्व पश्चात [illegible]।
पूर्व श्रद्धा न यात्यन्य पश्चाच्छ्रद्धा [illegible] ॥१६॥

१६ कोई पहले श्रद्धालु होता है और फिर [illegible] बन जाता है कोई पहले मन्दश्रद्धा होता है [illegible]।

पूर्व पश्चात पर कश्चित श्रद्धां [illegible] न [illegible]।
पूर्व पश्चात पर कश्चित् [illegible] ॥१७॥

१७ कोई न पहले श्रद्धालु होता है [illegible] कोई पहले भी श्रद्धालु होता है और [illegible]।

सम्यक स्यादथवाऽसम्यक, सम्यक श्रद्धावतो भवेत।
सम्यक चापि नचैव सम्यक, श्रद्धाहीनस्य जायते ॥१८॥

१८ कोई विचार सम्यक हो या असम्यक श्रद्धावान् पुरुष में वह सम्यक रूप से परिणत होता है और अश्रद्धावान् में सम्यक विचार भी असम्यक रूप से परिणत होता है।

ऊर्ध्व स्रोतोऽप्यध स्रोत, तिर्यक स्रोतो हि विद्यते।
आसक्तिर्विद्यते यत्र, बन्धन तत्र विद्यत ॥१९॥

१९ ऊपर स्रोत है नीचे स्रोत है और मध्य में भी स्रोत है जहा आसक्ति है—स्रोत है—वहाँ बन्धन है।

यावन्तो हेतवो लोके, विद्यन्ते बन्धनस्य हि।
तावन्तो हेतवो लोके, मुक्तेरपि भवन्ति च ॥२०॥

२० जितने कारण बन्धन के हैं उतने ही कारण मुक्ति के हैं

सर्वे स्वरा निवर्तन्ते, तर्कस्तत्र न विद्यते।
ग्राहिका न मतिस्तत्र, तत साध्य परम नृणाम ॥२१॥

२१ जिसे व्यक्त करने के लिए सारे स्वर—शब्द अक्षम हैं तर्क की जहा पहुँच नहीं है, बुद्धि जिसे पकड नहीं सकती वह (आत्मा) मनुष्यों का परम साध्य है।

ग्रामेवा यदि वाऽरण्ये न ग्राम नाप्यरण्यक।
रागद्वेषलयो यत्र, तत्र सिद्धि प्रजायते ॥२२॥

२२ सिद्धि गाव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है। वह न गाव में हो सकती और न अरण्य में भी। सिद्धि वहीं होती है जहा राग और द्वेष क्षीण होता है।

न मुण्डितेन श्रमण, न ओंकारेण ब्राह्मण ।
मुनिर्नारण्यवासेन, कुशचीरेण तापस ।।२३।।

२३ सिर को मूड़ लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता ओंकार को जप लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता अरण्य में निवास करने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और कुश के बने हुए वस्त्र पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता।

श्रमण समभावेन, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण ।
ज्ञानेन च मुनिर्लोके, तपसा तापसो भवेत् ।।२४।।

२४ श्रमण वह होता है जो समभाव रखे ब्राह्मण वह होता है जो ब्रह्मचर्य का पालन करे मुनि वह होता है जो ज्ञान की उपासना करे और तापस वह होता है जो तपस्या करे।

कर्मणा ब्राह्मणो लोके कर्मणा क्षत्रियो भवेत्।
कर्मणा जायते वैश्य शूद्रो भवति कर्मणा ।।२५।।

२५ मनुष्य कर्म (क्रिया) द्वारा ब्राह्मण होता है कर्म द्वारा क्षत्रिय होता है कर्म द्वारा वैश्य होता है और कर्म द्वारा शूद्र होता है।

न जातिर्न च वर्णोऽभूत् युगे युगल-चारिणाम्।
ऋषभस्य युगादस्या व्यवस्था समजायत ।।२६।।

२६ जो भाई-बहन के रूप में एक साथ उत्पन्न होते हैं और पति पत्नी बनकर साथ ही मरते हैं उन्हें युगलचारी—यौगलिक कहा जाता है। भगवान ऋषभदेव के पहले का काल युगलचारियों का युग कहलाता है। उस युग में न कोई जाति थी और न कोई वर्ण था। भगवान् ऋषभ के युग में जाति और वर्ण की व्यवस्था का प्रवर्तन हुआ।

एकव मानुषी जातिराचारेण विभज्यते ।
जातिगर्वो महोन्मादो, जातिवादो न तात्त्विक ॥२७॥

२७ मनुष्य जाति एक है। उसका विभाग आचार के आधार पर होता है। जाति का गर्व करना बहुत बड़ा उन्माद है क्योंकि जातिवाद कोई तात्त्विक वस्तु नही है, उसका कोई आधार नहीं है।

जातिवर्णशरीरादि, बाह्यभेदविमोहित ।
आत्माऽऽत्मसु घृणां कुर्यादियमोहो महान् नृणाम् ॥२८॥

२८ जाति वर्ण शरीर आदि बाह्य भेदो से विमूढ बनकर एक आत्मा दूसरी आत्मा से घृणा करे—यह मनुष्यो का महान मोह है।

यस्तिरस्कुरुतेऽन्य स, ससारे परिवर्तते ।
मन्यते स्वात्मनस्तुल्यानन्यान स मुक्तिमश्नुते ॥२९॥

२९ जो दूसरे का तिरस्कार करता है वह ससार मे पर्यटन करता है और जो दूसरो को आत्म-तुल्य मानता है वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

अनायको महायोगी, मौन पदमुपस्थित ।
साम्य प्राप्त प्रष्यप्रष्य, वन्दमानो न लज्जते ॥३०॥

३० मौनपद (श्रामण्य) मे उपस्थित होकर जो चक्रवर्ती महान् योगी बना और समत्व को प्राप्त हुआ वह अपने से पूर्व दीक्षित अपने भृत्य के भृत्य को भी वन्दना करने में लज्जित नहीं होता। यह है आत्म साम्य का स्थान।

मन साहसिको भीमो, दुष्टोऽश्व परिधावति ।
सम्यग् निगृह्यते येन स मुनिर्नैव नश्यति ॥३१॥

३१ मनुष्य दुष्ट घोड़ा है। वह साहसिक और भयंकर है। वह दौड़ रहा है। उसे जो भली भाँति धर्म से अधीन करता है वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

उन्मार्गे प्रस्थिता ये च, ये च सन्मार्गमागताः।
सर्वे ते विदिता यस्य, स मुनिर्नैव नश्यति॥३२॥

३२ जो उन्मार्ग में चलते हैं और जो मार्ग में चलते हैं वे सब जिसे ज्ञात हैं वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

आत्मानमजितं शत्रुः, कषाया इन्द्रियाणि च।
जित्वा तान् विहरेन्नित्यं स मुनिर्नैव नश्यति॥३३॥

३३ कषाय और इन्द्रियाँ शत्रु हैं। वह आत्मा भी शत्रु है जो इनके द्वारा पराजित है। जो इन्हें जीतकर विहार करता है वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

रागद्वेषादयस्तीव्राः स्नेहाः पाशा भयङ्कराः।
तांश्छित्त्वा विहरेन्नित्यं स मुनिर्नैव नश्यति॥३४॥

३४ तीव्र राग द्वेष और स्नेह—ये भयंकर पाश हैं। जो इन्हें छेद कर विहार करता है वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

अन्तो हृदयसम्भूता भवतृष्णा लता भवेत्।
विहरेत्तां समुच्छिद्य, स मुनिर्नैव नश्यति॥३५॥

३५ यह भव-तृष्णा रूपी लता हृदय के भीतर उत्पन्न होती है। उसे उखाड़ कर जो विहार करता है वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

कषायो अग्निय प्रोक्ता, श्रुत शील तपो जलम।
एतद्धारा हता यस्य स मुनिर्नैव नश्यति ॥३६॥

३६ कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप—यह जल है। जिसने इस जल धारा से कषायाग्नि को आहत कर डाला—बुझा डाला वह मुनि नष्ट नहीं होता—सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

यनात्मा साधितस्तेन विश्वमेतत प्रसाधितम।
यनात्मा नाशितस्तेन, सर्वमेव विनाशितम ॥३७॥

३७ जिसने आत्मा को साध लिया उसने विश्व को साध लिया। जिसने आत्मा को गँवा दिया उसने सब कुछ गवा दिया।

गच्छेद् दृष्टेषु निर्वेदमदृष्टेषु मति सजत।
दृष्टादृष्टविभागेन, नश्यान्त स्यापयन्मतिम ॥३८॥

३८ आत्मदर्शी साधक दृष्ट वस्तु से विरक्त बने और अदृष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए बुद्धि को लगाए। दृष्ट के प्रति आस्था और अदृष्ट के प्रति अनास्था रखने वाला व्यक्ति एकान्त दृष्टि वाला होता है। वह अपनी बुद्धि का आग्रहपूर्ण प्रयोग करता है किन्तु साधक को ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे दृष्ट के प्रति अनास्था और अदृष्ट के प्रति आस्था भी रखनी चाहिए।

श्रमणो वा गृहस्थो वा, धर्मधर्मे मतिभवेत।
आत्माऽसौ साध्यते तेन, साध्य कृत्वा स्थिर मन ॥३९॥

३९ जिसकी मति धर्म में लगी हुई है वह श्रमण हो या गृहस्थ, साध्य में मन को स्थिर बनाकर आत्मा को साध लेता है।

चतुर्दश अध्याय

मेघ प्राह—

गृहप्रवर्तन लग्ना, गृहस्थो भोगमाश्रितः।
साध्यस्याराधना कर्तुं, भगवन् कथमर्हति ॥१॥

१ मेघ बोला—भगवन्! जो गृहस्थ भोग का सेवन करता है और गृहस्थी चलाने में लगा हुआ है वह साध्य की—मोक्ष की, आराधना कैसे कर सकता है?

भगवान प्राह—

देवानुप्रिय! यस्य स्यादासक्तिः क्षणतां गता।
साध्यस्याराधना कुर्यात् स गृहे स्थितिमाचरन् ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय! जिस व्यक्ति की आसक्ति क्षीण हो जाता है वह घर में रहता हुआ भी मोक्ष की आराधना कर सकता है।

गृहेऽप्याराधना नास्ति गृहत्यागेऽपि नास्ति सा।
आशा येन परित्यक्ता साधना तस्य जायते ॥३॥

३ मोक्ष की आराधना न घर में है और न घर को छोड़ने में अर्थात् उसका अधिकारी गृहस्थ भी नहीं है और गृहत्यागी भी नहीं है। उसका अधिकारी वह है जो आशा का त्याग चुका है।

नाशा त्यक्ता गृह त्यक्त, नासौ त्यागी न वा गृही।
आशा येन परित्यक्ता, त्यागी सोऽर्हति मानव ॥४॥

४ जिसने घर का त्याग किया किन्तु आशा का त्याग नहीं किया वह न त्यागी है और न गृहस्थ। वही मनुष्य त्याग का अधिकारी है जो आशा का त्याग करता है।

पदार्थ-त्यागमात्रेण, त्यागी स्याद् व्यवहारत।
आशाया परिहारेण, त्यागी भवति वस्तुत ॥५॥

५ जो व्यक्ति केवल पदार्थ का त्याग करता है किन्तु उसकी वासना का त्याग नहीं करता वह व्यवहारदृष्टि से त्यागी है, वास्तव में नहीं। वास्तव में त्यागी वही है जो आशा का त्याग करता है।

पूर्णस्त्यागः पदार्थाना, कर्तु शक्यो न देहिभि।
आशाया परिहारस्तु कर्तु शक्योऽस्ति तैरपि ॥६॥

६ देहधारियों के लिए पदार्थों का सर्वथा परित्याग करना संभव नहीं होता किन्तु वे आशा का सर्वथा परित्याग कर सकते हैं।

यावानाशा परित्यागः क्रियते गृहवासिभि।
तावान् धर्मो मया प्रोक्त, सोऽगार धर्म उच्यते ॥७॥

७ गृहस्थ आशा का जितना परित्याग करते हैं उसी को मैंने धर्म कहा है और वही अगार धर्म कहलाता है।

सम्यक् श्रद्धा भवेत्तत्र सम्यग्ज्ञान प्रजायते।
सम्यक् चारित्र्य-सम्प्राप्तेर्योग्यता तत्र जायते ॥८॥

८ जिनमें सम्यक् श्रद्धा होती है उन्हीं में सम्यग् ज्ञान होता है और जिनमें ये दोनों होते हैं उन्हीं में सम्यग् चारित्र की प्राप्ति की योग्यता होती है।

योग्यताभेदतो भेदो, धर्मस्याधिकृतो मया।
एक एवान्यथा धर्म, स्वरूपेण न भिद्यते॥९॥

९ योग्यता में तारतम्य होने के कारण मैंने धर्म के भेद का निरूपण किया। स्वरूप की दृष्टि से वह एक है उसका कोई विभाग नहीं होता।

महाव्रतात्मको धर्मोऽनगाराणाञ्च जायते।
अणुव्रतात्मको धर्मो, जायते गृहमेधिनाम्॥१०॥

१० अनगार (घर का त्याग करने वाले मुनि) के लिए महाव्रत रूप धर्म का और गृहस्थ के लिए अणुव्रतरूप धर्म का विधान किया गया है।

मेघः प्राह—

अगारिणां कथं धर्मो, व्यापन्नानाञ्च सम्भवेत्।
गृहिणा यदि धर्मः स्यादनगारो हि को भवेत्॥११॥

११ मेघ बोला—गृहस्थी में फंसे हुए गृहस्थों के धर्म कैसे हो सकता है? यदि गृहस्थ भी धर्म के अधिकारी हों तो फिर साधु कौन बनेगा?

भगवान् प्राह—

सत्यं तथापि तद्, मुमुक्षा यस्य
स [illegible] वृत्तिमनगाराणां न नाम

१२ भगवान् ने कहा—देवानुप्रिय ! यह सच है कि जिसमें मुक्त होने की प्रबल इच्छा नहीं होती वह मुनि धर्म को स्वीकार नहीं करता।

ममक्षा यावती यस्य, समता तावती स्थित ।
आचरति गृही धर्म व्यापृतो पि च कर्मसु ॥१३॥

१३ जिस गृहस्थ में मुक्त होने की जितनी भावना होती है वह उतनी ही मात्रा में समता का आचरण करता है और जितनी मात्रा में समता का आचरण करता है उतनी ही मात्रा में धर्म का आचरण करता है। इस प्रकार वह गृहस्थी के कामों में लगा रहने पर भी धर्म की आराधना करने का अधिकारी है।

द्विविधं विद्यते वीर्य, लब्धिश्च करणं तथा।
अन्तरायक्षयाल्लब्धि करणं वपुषाञ्चितम् ॥१४॥

१४ वीर्य के दो प्रकार हैं —(१) लब्धिवीर्य—योग्यतात्मक शक्ति (२) करणवीर्य—क्रियात्मक शक्ति। अन्तराय के दूर होने पर लब्धि का विकास होता है और शरीर के माध्यम से शक्ति का प्रयोग होता है।

वपुष्मतो भवेद् वाणी, मनोऽप्यस्यैव जायते।
शारीरिकं वाचिकञ्च मानसं ततः क्रिया भवेत् ॥१५॥

१५ जिसके शरीर होता है उसी के वाणी और मन होते हैं। इसलिए करणवीर्य तीन प्रकार का होता है—शारीरिक वाचिक मानसिक।

२० मघ वाला—कृषि वाणिज्य रक्षा शिल्प आदि विभिन्न प्रकार क कम करता हुआ गहस्थ सत्प्रवृत्ति कम कर सकता है ?

भगवान् प्राह—

प्रयजानयजा चेति हिंसा प्रोक्ता मयाद्विधा।
अनर्थजां त्यजन्नेव प्रवत्ति लभते स्ताम् ॥२१॥

२१ भगवान ने कहा—मन हिंसा के दो प्रकार बतलाए हैं — (१) अर्थजा (२) अनर्थजा। गृहस्थ अनर्थजा हिंसा का परित्याग सहज ही कर सकता है और जितनी मात्रा में वह उसका त्याग करता है उतनी मात्रा में उसकी प्रवृत्ति सत् हो जाती है।

आत्मन ज्ञातय तद्वत् राज्याय सुहृदे तथा।
या हिंसा क्रियते लोकरर्थजा सा विलोच्यते ॥२२॥

२२ अपने लिए परिवार राज्य और मित्र क लिए जो हिंसा की जाती है वह अर्थजा हिंसा कहलाती है।

परस्परोपग्रहो हि समाजालम्बनं भवेत्।
तदर्थ क्रियते हिंसा कथ्यते सापि चार्थजा ॥२३॥

२ परस्पर एक दूसरे का सहयोग करना समाज का आधारभूत तत्त्व है। इस दृष्टि से समाज के लिए जो हिंसा की जाती है उसे भी अर्थजा हिंसा कहा जाता है।

कुर्वन्नप्यर्थजां हिंसा, नासक्ति कुरुते दृढाम्।
तदासौ लिप्यते नासौ, चिक्कणैरिह कर्मभि ॥२४॥

२४ अर्थजा हिंसा करते समय जो प्रबल आसक्ति नहीं रखता वह चिकने कर्म-परमाणुओं से लिप्त नहीं होता।

हिंसा न क्वापि निर्दोषा पर लेपेन भिद्यते।
आसक्तस्य भवेद् गाढोऽनासक्तस्य भवेन्मृदुः ॥२५॥

२५ हिंसा कहीं भी निर्दोष नहीं होती परन्तु उसके रूप में अन्तर होता है। आसक्त पुरुष कम का गाढ़रूप से और अनासक्त पुरुष मृदुरूप से लिप्त होता है।

सम्यग्दृष्टेरिदं सारं मनर्थं यन्न वर्तते।
प्रयोजनवशाद् यत्र तत्र लग्नोऽपि मुच्यते ॥२६॥

२६ सम्यग्दृष्टि बनने का यह सार है कि वह अनर्थ (प्रयोजन बिना) हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता और प्रयोजनवश जो हिंसा करता है उसमें भी आसक्त नहीं होता।

सम्यक्त्वानि समाश्रित्य कुर्वन् कर्माणि मानवम्।
अनासक्तं निदधात, स्याल्लेपो न घनो यतः ॥२७॥

२७ समाज द्वारा सम्मत कर्म को करता हुआ व्यक्ति मन को अनासक्त रखे जिससे कि वह उसके दृढ़रूप से लिप्त न हो।

अविरतिं प्रवृत्तिश्च द्विविधं बन्धनं भवेत्।
प्रवृत्तिस्तु कदाचित् स्यादविरतिर्निरन्तरम् ॥२८॥

२८ बन्धन दो प्रकार के हैं—अविरति और प्रवृत्ति। प्रवृत्ति कभी-कभी होती है, अविरति निरन्तर रहती है।

दुष्प्रवृत्तिमकुर्वाणो, लोकः सर्वोऽप्यहिंसकः।
परन्त्वविरतत्वस्यापेक्षया स्याद्धिंसकः ॥२९॥

२९ दुष्प्रवृत्ति न करने वाला अहिंसक होता हो तो सारा संसार ही अहिंसक है क्योंकि कोई भी व्यक्ति निरन्तर दुष्प्रवृत्ति नहीं करता। परन्तु अहिंसक वह होता है जो अविरति का त्याग करे अर्थात कभी और किसी प्रकार की हिंसा न करने का दृढ़ संकल्प करे।

दुष्प्रवृत्त क्वचित साधुर्नाव्रती स्यान्मुनि क्वचित्।
सत्प्रवृत्तोऽपि ना साधुरव्रती जायते क्वचित ॥३०॥

३० जो दुष्प्रवृत्त है वह क्वचित साधु हो सकता है परन्तु अव्रती कहा और कभी साधु नहीं हो सकता। अव्रती सत्प्रवृत्ति कर फिर भी वह साधु नहीं होता। तात्पर्य यह है कि व्रती के द्वारा भी कभी दुष्प्रवृत्ति हो सकती है किन्तु उसमे वह अव्रती नहीं होता और अव्रती सत्प्रवृत्ति करने मात्र से साधु नहीं होता। साधु वह होता है जिसके अव्रत न हो—असयम न हो।

इतस्तत प्रसर्पन्ति जना लोभाविलाशया।
तेन दिग्विरति कार्या गृहिणा धर्मचारिणा ॥३१॥

३१ लोभी मनुष्य अर्थार्जन के लिए इधर उधर सुदूर प्रदेश तक जाते हैं। इसलिए धार्मिक गृहस्थ को दिग्विरति–दिशाओं मे गमनागमन का परिमाण करना चाहिये।

उपभोग पदार्थानां, मोह नयति देहिन।
भोगस्य विरति कार्या, तेन धर्मस्पृहा गिरा ॥३२॥

३२ पदार्थों का भोग मनुष्य को मोह मे डालता है इसलिए धार्मिक पुरुष को भोग की विरति (परिमाण) करना चाहिए।

कल्पनाभि प्रमादेन, दण्ड प्रयुज्यते जन ।
अनर्थदण्ड विरति, कार्या धर्मस्पृशा जिना ॥३३॥

३३ मनुष्य अनेक प्रकार की कल्पनाओं व प्रमाद के वशीभूत होकर दण्ड (हिंसा) का प्रयोग करता है। धार्मिक पुरुष को अनर्थ दण्ड (अनावश्यक हिंसा) से निवृत्त होना चाहिए।

सावद्ययोग विरतेरभ्यासो जायते तत ।
समभावविकास स्यात तच्च सामायिक व्रतम ॥३४॥

३४ जिससे सावद्य (पापसहित) प्रवृत्तियो से निवृत्त होने का अभ्यास होता है और समभाव का विकास होता है वह सामायिक' व्रत कहलाता है।

सावधिकञ्च हिंसादे परित्यागो यथाविधि ।
क्रियते व्रतमेतत् देशावकाशिक भवेत् ॥३५॥

३५ एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक जो हिंसा का परित्याग किया जाता है वह देशावकाशी' व्रत कहलाता है।

सावद्ययोग विरति सोपवासा विधीयते ।
द्रव्यक्षेत्रादि भेदेन, पौषध तद भवेद व्रतम ॥३६॥

३६ उपवासपूर्वक द्रव्य—वस्तुओ की मर्यादा क्षेत्र—अमुक स्थान से आगे न जाना काल—अहोरात्र भाव— राग—द्वेष रहित—इन चार प्रकारो से सावद्य योग (असत् प्रवृत्ति) की विरति करना पौषध' व्रत कहलाता है।

प्रासुक दोषमुक्तञ्च भक्तपान प्रदीयते ।
मुनय स्वार्थसंशोच सविभागो तिथिव्रतम् ॥

३७ अपना सकोच कर (स्वय कुछ कम खाकर) साधु को प्रासुक–अचित्त आयाकम (साधु के लिए बनाया हुआ भोजन) आदि दोष रहित–जो भोजन-पानी दिया जाता है वह अतिथि-सविभाग व्रत कहा जाता है।

सल्लेखनां प्रकुर्वीत, श्रावको मारणान्तिकाम।
मृत्यु सन्निहित ज्ञात्वा सत्कारविचक्षणाम ॥३८॥

३८ मृत्यु से न डरने वाला श्रावक मृत्यु को सन्निहित (पास में) जानकर मारणान्तिक सलेखना–अनशन के द्वारा शरीर का त्याग करने के लिए क्रमश विषय आदि का परित्याग करे।

सयमस्य प्रकर्षाय मनोनिग्रहहेतव।
प्रतिमा प्रतिपद्यत श्रावक स्वोचिता इमा ॥३९॥

३९ सयम के उत्कर्ष और मन का निग्रह करने के लिए श्रावक अपने लिए उचित इन प्रतिमाओ का स्वीकार करे।

दर्शनप्रतिमा तत्र, सर्वधर्मरुचिर्भवेत।
दृष्टिमाराधयल्लोक, सर्वमाराधयत्परम ॥४०॥
व्रतसामयिकपौषधकायोत्सर्गा मिथुनवर्जनम।
सच्चित्ताहारवर्जन स्वयमारम्भवर्जन चापि ॥४१॥
प्रेष्यारम्भ विवर्जनमुद्दिष्टभक्त वर्जनञ्चापि।
श्रमणभूत एकादश प्रतिमा एता विनिर्दिष्टा ॥४२॥

४० ४१ ४२ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए होती है। पहली प्रतिमा का नाम दर्शन प्रतिमा है। सब धर्मों (क्रम मुक्ति के समस्त साधना) के प्रति जो रुचि होती है उसे दर्शन प्रतिमा कहा जाता

है। जो व्यक्ति दृष्टि की आराधना करता है वह उत्तरवर्ती सभी गुणों की आराधना कर लेता है।

(२) व्रत प्रतिमा
(३) सामायिक-प्रतिमा
(४) पौषध प्रतिमा
(५) कायोत्सर्ग प्रतिमा
(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा
(७) सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा
(८) स्वयंआरम्भवर्जन प्रतिमा
(९) प्रेष्यारम्भवर्जन प्रतिमा
(१०) उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा
(११) श्रमणभूत प्रतिमा

—ये ग्यारह प्रतिमाएं हैं। इनका कालमान और विधि निम्न प्रकार से जानना चाहिए ?

---

(१) १ दर्शन-श्रावक—इसका कालमान एक मास का है। इसमें सर्व धर्म (पूर्ण धर्म) रुचि होना सम्यक्त्व विशुद्धि रखना—सम्यक्त्व के दोषों को वर्जना।

२ व्रत प्रतिमा—इसका कालमान दो मास का है। इसमें पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध उपवास करना।

३ सामायिक-प्रतिमा—इसका कालमान तीन मास का है। इसमें सामायिक और देशावकाशी व्रत धारण करना।

४ पौषध प्रतिमा—इसका कालमान चार मास का है।

इसमें अष्टमी चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी का प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पालन करना।

५ कायोत्सर्ग प्रतिमा—इसका कालमान पाँच मास का है। इसमें स्नान नहीं करना रात्रि भोजन नहीं करना, धोती की लांग नहीं देना दिन में ब्रह्मचारी रहना रात्रि में मैथुन का परिमाण करना।

६ ब्रह्मचर्य प्रतिमा—इसका कालमान छह मास का है। इसमें सर्वथा ब्रह्मचर्य पालना।

७ सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा—इसका कालमान सात मास का है। इसमें सचित्त आहार का परित्याग करना।

८ स्वयंआरम्भवर्जन प्रतिमा—इसका कालमान आठ मास का है। इसमें स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

९ प्रेष्यारम्भवर्जन प्रतिमा—इसका कालमान नव मास का है। इसमें नौकर चाकर आदि से आरम्भ-समारम्भ न करना।

१० उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा—इसका कालमान दस मास का है। इसमें उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना बालों का क्षुर से मुण्डन न करना अथवा शिखा धारण करना घर सम्बन्धी प्रश्न करने पर—मैं जानता हूँ या नहीं—इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलना।

११ श्रमणभूत प्रतिमा—इसका कालमान ग्यारह मास का है। इसमें क्षुर से मुण्डन न करना अथवा लुञ्चन करना और साधु का आचार, भण्डोपकरण एवं वेश धारण करना।

केवल जाति वर्ग से ही उसका प्रेम-बन्धन नहीं टूटता इसलिए भिक्षा के लिए केवल जाति जनों में ही जाना।

असंयमं परित्यज्य संयमस्तेन सेव्यताम्।
असंयमो महद् दुःखं संयमं सुखमुत्तमम्॥४३॥

इसलिए असंयम को छोड़कर संयम का सेवन करना चाहिए। असंयम महान् दुःख है। संयम उत्तम सुख है।

पञ्चदश अध्याय

यावद् देहो भवतपसा तावत्कर्मापि जायते।
कुर्यादावश्यक कर्म धर्ममप्याचरेद गृही ॥१॥

१ जब तक मनुष्य क शरीर होता है तब तक क्रिया होती है। आवश्यक क्रिया को करता हुआ मनुष्य धर्म का भी आचरण करे।

यथाहारादि कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि च।
तथात्माराधन चापि, भवेदावश्यक परम ॥२॥

२ जिस प्रकार भोजन आदि क्रियाए आवश्यक होती ह उसी प्रकार आत्मा की साधना करना भी अत्यत आवश्यक होता है।

सद्य प्रात समुत्थाय स्मरेद्वा च परमेष्ठिनम।
प्रात कृत्याभिवृत्त सन कुर्यादात्मनिरीक्षणम ॥३॥

३ सबेरे जल्दी उठ कर नमस्कारमत्र का स्मरण कर शौच आदि प्रात कृत्य (सबेरे करने योग्य) कार्यों स निवृत्त होकर आत्म निरीक्षण करे।

सामायिक प्रकुर्वीत समभावस्य लब्धये।
भावना भावयत पुण्या सत्सकल्पान समासजत ॥४॥

४ समभाव की प्राप्ति के लिए सामायिक (४८ मिनट तक सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग) करे आत्मा को पवित्र भावनाओं स भावित करे और शुभ सकल्प कर।

स्थय प्रभावना भक्ति कौशल जिनशासन।
तीर्थसेवा भवन्त्यत्र, भूषा सम्यग् दृशो ध्रुवम् ॥५॥

५ धर्म में स्थिरता प्रभावना—धर्म का महत्त्व बढ़ाना, कार्य करना, धर्म या धर्म गुरु के प्रति भक्ति रखना, जैन शासन में कौशल प्राप्त करना और तीर्थ सेवा—चतुर्विध संघ को धार्मिक सहयोग देना, ये पांच सम्यक्त्व के भूषण हैं।

भारवाही यथाऽऽश्वासान्, भाराक्रान्तोऽश्नुते यथा।
तथारम्भभराक्रान्त श्राश्वासाञ्श्रावकोऽश्नुते ॥६॥

६ जिस प्रकार भार से दबा हुआ भारवाहक विश्राम लेता है, उसी प्रकार आरम्भ (हिंसा) के भार से आक्रान्त श्रावक विश्राम लेता है।

इन्द्रियाणामधीनत्वाद् वर्ततेऽवद्यकर्मणि।
तथापि मानसं खेद ग्लानित्वाद् वहते चिरम् ॥७॥

७ इन्द्रियों के अधीन होने के कारण वह पापकर्म—हिंसात्मक क्रिया में प्रवृत्त होता है फिर भी ग्लानियुक्त होने के कारण वह उस कार्य में आनन्द नहीं मानता किन्तु मन में खिन्न रहता है।

आश्वास प्रथम सोऽयं, शीलादीप्रतिपद्यते।
सामायिक करोतीति द्वितीय सोऽपि जायते ॥८॥

८ व्रत आदि स्वीकार करना श्रावक का पहला विश्राम है। सामायिक करना दूसरा विश्राम है।

प्रतिपूर्ण पौषधञ्च, तृतीय स्याच्चतुर्थक।
सल्लेखना श्रितो यावज्जीवमनशन सजत् ॥९॥

६ उपवासपूर्वक पौषध करना तीसरा विश्राम और सल्सना पूर्वक आमरण अनशन करना चौथा विश्राम है।

परिग्रह प्रहास्यामि, भविष्यामि कदा मुनि ।
त्यक्ष्यामि च कदाभक्त, ध्यात्वेद शोधयन्निजम् ॥१०॥

१० म कब परिग्रह छोड़ूगा म कब मुनि बनूगा, म कब भोजन का परित्याग करूगा—श्रावक इस प्रकार के चिन्तन स आत्मशोधन करे।

श्रमणोपासना कार्या, श्रवण तत्फल भवत।
तत सञ्जायते ज्ञान, विज्ञान जायते तत ॥११॥

११ श्रमण की उपासना करनी चाहिए। उपासना का फल धम श्रवण है। धम श्रवण स ज्ञान और ज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रत्याख्यान ततस्तस्य, फल भवति सयम ।
अनाश्रवस्तपस्तस्माद, व्यवदानञ्च जायते ॥१२॥

१२ विज्ञान का फल प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल सयम है। सयम का फल है अनाश्रव (कम निरोध) अनाश्रव का फल तप और तप का फल है व्यवदान (कम निर्जरण)।

अक्रिया जायते तस्मान्निर्वाण तत्फल भवेत।
महान्त जनयल्लाभ, महतां सगमो महान् ॥१३॥

१३ व्यवदान का फल है अक्रिया—मन वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध और अक्रिया का फल है निर्वाण। इस प्रकार महापुरुष के ससग से बहुत बड़ा हित होता है।

१८ प्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से आत्मा उच्चगोत्र वाला और अप्रशस्त सामग्री के प्राप्त होने से वह नीचगोत्र वाला कहलाता है। वस्तुत कोई भी आत्मा किसी भी आत्मा से न उच्च है और न नीच।

प्रज्ञामदं चैव तपोमदञ्च
निर्णामयेद् गोत्रमदञ्च धीरः ।
अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतं
न तस्य जातिः शरणं कुलं वा ॥१९॥

१९ धीर पुरुष वह होता है जो बुद्धि, तप और गोत्र के मद का उन्मूलन करे। जो दूसरे को प्रतिबिम्ब की भांति तुच्छ मानता है उसके लिए जाति या कुल शरणभूत नहीं होते।

नात्मा शब्दो न गन्धोऽसौ रूपं स्पर्शो न वा रसः ।
न वर्तुलो न त्र्यस्रः सत्तारूपवती ह्यसौ ॥२०॥

२० आत्मा न शब्द है न गन्ध है न रूप है न स्पर्श है न रस है न वर्तुल (गोलाकार) है और न त्रिकोण है। वह अमूर्त सत्ता द्रव्य है।

न पुरुषो नवापि स्त्री नवाप्यस्ति नपुंसकम्।
विचित्रपरिणामेन, देहेऽसौ परिवर्तते ॥२१॥

२१ आत्मा न पुरुष है न स्त्री है और न नपुंसक। वह विचित्र परिणतियों द्वारा शरीर में परिवर्तित होता रहता है।

असवर्णः सवर्णो वा, नासौ क्वचन विद्यते।
अनन्तज्ञान-सम्पन्नो, सपर्येति शुभाशुभं ॥२२॥

ये वेचित क्षद्रका जीवा, य च सन्ति महालया ।
तद्वध सदृशो दोषोऽसदृशोवति नो वदेत ॥२७॥

२७ कइ जीवो का गरार छोटा होता है और कइयो का बडा। उन्हें मारा म समान पाप होता है या असमान—इस प्रकार नहा कहना चाहिये।

हृतव्य मयसे य त्व स त्वमेवासि नापर ।
यमाज्ञापयितव्यञ्च सत्वमेवासि नापर ॥२८॥

२८ जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है। जिस पर तू अनुशासन करना चाहता है वह तू ही है।

परितापयितव्य य स त्वमेवासि नापर ।
यञ्च परिग्रहीतव्य स त्वमेवासि नापर ॥२९॥

२९ जिसे तू सतप्त करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू दास दासी क रूप म अपने अधीन करना चाहता है वह तू ही है।

अपद्रावयितव्य य स त्वमेवासि नापर ।
अनुसवदन ज्ञात्वा हन्तव्य नाभिप्रार्थयत् ॥३०॥

३० जिसे तू पीडित करना चाहता है वह तू ही है। सब जीवो मे सवेदन होता है—स्पष्टानुभूति होती है—यह जानकर किसीको मारने आदि की इच्छा न करे।

परिणामिनि विश्वेऽस्मिन्ननादि-निधने ध्रुवम्।
सर्वे विपरिवर्तन्ते चेतना अप्यचेतना ॥३१॥

३१ यह ससार नाना रूपो में निरन्तर परिणमन शील और आदि अन्त रहित है। इसम चेतन और अचेतन सब पदार्थों की अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती है।

उत्पाद-व्ययधर्माणो, भावा ध्रौव्यान्विता अपि।
जीव पुद्गलयोगेन द्रव्य जगत भवत ॥३२॥

३२ पदार्थ उत्पाद और व्यय धर्म वाले हैं। उनमें ध्रौव्य (नित्यता) भी है। यह दृश्य जगत् जीव और पौद्गल के संयोग से बनता है। जो दृश्य है वह जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न परिणति है।

आत्मा न दृश्यतामति दृश्यो देहः चेतन्या।
देहेऽस्मिन् विनिवृत्ते तु सदोऽदृश्यत्वमृच्छति ॥३३॥

३३ आत्मा स्वयं दृश्य नहीं है, वह शरीर की चेष्टा से दृश्य बनता है। शरीर की निवृत्ति होने पर वह पुनः अदृश्य बन जाता है।

स्पर्शाः रूपाणि गन्धाश्च रसा येन जिहासिता।
आत्मा तेनैव नावोजि, तथवात्मविन पुमान ॥३४॥

३४ जिसने स्पर्श, रूप, गंध और रस की आसक्ति को छोड़ना चाहा आत्मा उसी को प्राप्त हुआ है और वही पुरुष आत्मा को जानने वाला है।

श्रुतवन्तो भवन्त्येके शीलवन्तोऽपरे जना।
श्रुतशीलयुता एके शेषा द्विभ्यां विवर्जिता ॥३५॥

३५ पुरुष चार प्रकार के होते हैं—
(१) श्रुतवान् (ज्ञानवान)
(२) आचारवान्
(३) श्रुतवान् और आचारवान्
(४) न श्रुतवान् और न आचारवान्।

ग म
स्मा से
मावना

श्रुतवान् मोक्षमार्गस्य देशेन स्याद् विराधकः ।
शीलवान् मोक्षमार्गस्य देशेनाराधको भवेत् ॥३६॥

३६ जो पुरुष केवल श्रुतवान होता है वह मोक्ष मार्ग का आंशिक रूप से विराधक होता है। जो पुरुष केवल आचारवान होता है वह मोक्ष मार्ग का आंशिक रूप से आराधक होता है।

इदं दर्शनमापन्नो मुच्यते नेति सम्मतम्।
श्रुतशीलसमापन्नो मुच्यते नात्र संशयः ॥३७॥

३७ कुछ लोगों का अभिमत है कि अमुक दर्शन को स्वीकार करने से व्यक्ति मुक्त हो जाता है किन्तु यह सम्मत नहीं है। सचाई यह है कि जो श्रुत और शील से युक्त होता है वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है।

श्रुतशील समापन्नो सर्वथाऽऽराधको भवेत्।
द्वाभ्यां विवर्जितो लोके सर्वथा स्याद् विराधकः ॥३८॥

३८ जो श्रुत और शील से युक्त है वह मोक्ष मार्ग का सर्वथा आराधक है। जो श्रुत और शील दोनों से रहित है वह मोक्ष मार्ग का सर्वथा विराधक है।

वाचः कायस्य कौकुच्यं कन्दर्पं विकथां तथा।
कृत्वा विस्मापयत्यन्यान् कान्दर्पी तस्य भावना ॥३९॥

३९ वाणी और शरीर की चपलता काम चेष्टा और विकथा के द्वारा जो दूसरों को विस्मित करता है उस व्यक्ति की भावना कान्दर्पी भावना कहलाती है।

मन्त्रयोगं भूतिकर्म प्रयुङ्क्ते सुखहेतवे।
अभियोगीं भवेत्तस्य भावना विषयैषिणः ॥४०॥

४० विषय की गवेषणा करने वाला जो व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए मंत्र और जादू-टोने का प्रयोग करता है उसकी भावना 'आभियोगी' भावना कहलाती है।

ज्ञानस्य ज्ञानिनो नित्यं संघस्य धर्मसेविनाम्।
वदन्नवर्णवादमाप्नोति किल्विषिकाख्य भावनाम् ॥४१॥

४१ जो ज्ञानवान्, संघ और धार्मिकों का जो अवर्णवाद (निन्दा) करता है, उसकी भावना 'किल्विषिकी' भावना कहलाती है।

अव्यवच्छिन्नरोषस्य क्षमणान्न प्रसीदतः।
प्रमादेनानुतपतः आसुरी भावना भवेत् ॥४२॥

४२ जिसका रोष निरन्तर बना रहता है जो क्षमा-याचना करने पर भी प्रसन्न नहीं होता और जो अपनी भूल पर अनुताप नहीं करता, उसकी भावना 'आसुरी' भावना कहलाती है।

उन्मार्गदेशको मार्गनाशकश्चात्मघातकः।
मोहयित्वात्मनात्मानं संमोही भावनां व्रजेत् ॥४३॥

४३ जो उन्मार्ग का उपदेश करता है जो दूसरे को सन्मार्ग से भ्रष्ट करता है जो आत्महत्या करता है और जो अपनी आत्मा से आत्मा को मोहित करता है उसकी भावना 'मोही' भावना कहलाती है।

मिथ्यादर्शनमापन्ना सनिदानाश्च हिंसकाः।
म्रियन्ते प्राणिनस्तेषां बोधिभवेत् दुर्लभा ॥४४॥

४४ जो मिथ्यादर्शन से युक्त हैं, जो भौतिक सुख की प्राप्ति का संकल्प करते हैं और जो हिंसक हैं उन्हें मृत्यु के बाद भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है।

> सम्यग्दर्शनमापन्ना अनिदाना अहिंसकाः।
> म्रियन्ते प्राणिनस्तेषां, सुलभा बोधिरिष्यते ॥४५॥

४५ जो सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, जो भौतिक सुख का संकल्प नहीं करते और जो अहिंसक हैं उन्हें मृत्यु के उपरान्त भी बोधि सुलभ होती है।

> अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुरभाषिणी।
> उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं मधुपिधानकः ॥४६॥

४६ जिस व्यक्ति का हृदय पाप रहित है और जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है वह मधुकुम्भ है और मधु के ढक्कन से ढका हुआ है।

> अपापं हृदयं यस्य, जिह्वा कटुकभाषिणी।
> उच्यते मधुकुम्भः स, नूनं विषपिधानकः ॥४७॥

४७ जिस व्यक्ति का हृदय पाप रहित है किन्तु जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी है वह मधुकुम्भ है और विष के ढक्कन से ढका हुआ है।

> सपापं हृदयं यस्य, जिह्वा मधुरभाषिणी।
> उच्यते विषकुम्भः स, नूनं मधुपिधानकः ॥४८॥

४८ जिस व्यक्ति का हृदय पाप सहित है किन्तु जिसकी जिह्वा मधुरभाषिणी है वह विषकुम्भ है और मधु के ढक्कनसे ढका हुआ है।

सपापं हृदयं यस्य जिह्वा कटुकभाषिणी।
उच्यते विषकुम्भः स नूनं विषपिधानकः ॥४९॥

४९ जिस व्यक्ति का हृदय पाप सहित है और जिसकी जिह्वा कटुभाषिणी है वह विषकुम्भ है और विष के ढक्कन से ढका हुआ है।

रिक्तोदरतया मत्या, क्षुधावेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेनाऽऽहारसंज्ञा प्रजायते ॥५०॥

५० खाने की इच्छा उत्पन्न होने के चार कारण हैं —
१ खाली पेट होना
२ भोजन सम्बन्धी बातें सुनना तथा भोजन को देखना
३ क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय
४ भोजन का सतत चिन्तन करना।

हीनसत्त्वतया मत्या भयवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन भयसंज्ञा प्रजायते ॥५१॥

५१ भय संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती है —
१ बल की कमी
२ भय सम्बन्धी बात सुनना तथा भयानक दृश्य देखना,
३ भय वेदनीय कर्म का उदय
४ भय का सतत चिन्तन करना।

चितमांसरक्ततया मत्या मोहोदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन मैथुनेच्छा प्रजायते ॥५२॥

५२ चार कारणों से मैथुन की इच्छा होती है —
१ मांस और रक्त की वृद्धि,

२ मथुन सम्बन्धी बातें सुनना तथा मथुन बढ़ाने वाले पदार्थो को दखना
३ मोह-कम का उदय
४ मथुन का सतत चिन्तन करना।

अविमुक्ततया मत्या, लोभवेद्योदयेन च।
तस्यार्थस्योपयोगेन सग्रहेच्छा प्रजायते ॥५३॥

५३ परिग्रह की इच्छा चार कारणो से उत्पन्न होती है—
१ अविमुक्तता—निर्लोभता न होना
२ परिग्रह की बातें सुनना और धन आदि को दखना
३ लाभ-वेदनीय कम का उदय,
४ परिग्रह का सतत चिन्तन करना।

कारुण्येन भयेनापि सग्रहेणानुकम्पया।
लज्जया चापि गर्वेण, अधमस्य च पोषकम् ॥५४॥
धमस्य पोषक चापि कृतमितिधिया भवेत्।
करिष्यतीति बुद्धयापि दान दशविध भवेत् ॥५५॥

५४ ५५ दान दस प्रकार का होता है—
१ अनुकम्पा दान—किसी व्यक्ति की दीनावस्था से द्रवित होकर उसके भरण पोषण के लिए दिया जाने वाला दान,
२ सग्रह-दान—कष्ट में सहायता दने के लिए दान देना
३ भय-दान—भय स दान देना
४ कारुण्य दान—शोक के सम्बन्ध में दान देना
५ लज्जा दान—लज्जा स दान दना

६ गर्व दान—यश मान सुन कर एवं बराबरी की भावना से दान देना
७ अधर्म दान—हिंसा आदि पाँच आस्रव-द्वार सेवन के लिए दान देना
८ धर्म दान—प्राणी मात्र को अभय देना सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति करवाना
९ करिष्यति दान—लाभ के बदले की भावना से दान देना
१० कृत दान—किए हुए उपकार को याद कर, दान देना ।

धर्मो दशविधः प्रोक्तो मया मघ ! विजानता ।
तत्र श्रुतञ्च चारित्रं, मोक्षधर्मो व्यवस्थितः ॥५६॥

५६ मघ ! मैंने दस प्रकार का धर्म कहा है—

१ ग्राम धर्म—गाँव की व्यवस्था (आचार-परम्परा)
२ नगर धर्म—नगर की व्यवस्था (आचार-परम्परा)
३ राष्ट्र धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था (आचार-परम्परा)
४ पाषण्ड धर्म—अन्य तीर्थिकों का धर्म
५ कुल धर्म—कुल का जो आचार होता है वह कुल धर्म है
६ गण धर्म—गण (कुल समूह) की जो समाचारी (आचार मर्यादा) होती है वह गण धर्म है
७ संघ धर्म—संघ (गण-समूह) की जो समाचारी (आचार मर्यादा) होती है वह संघ धर्म है
८ ९ श्रुत धर्म और चारित्र धर्म—आत्मा उत्थान के हेतु (मोक्ष के उपाय) होने के कारण श्रुत अर्थात् सम्यक् ज्ञान और चारित्र ये दोनों क्रमशः श्रुत धर्म और चारित्र धर्म हैं
१० अस्तिकाय धर्म—पंचास्तिकाय का जो स्वभाव है,

षोडश अध्याय

मघ प्राह–

> मन प्रसादमर्हामि किमालम्बनमाश्रित ।
> कथं प्रमादतो मुक्तिमाप्नोमि ब्रूहि मे विभो ! ॥१॥

१ मघ बोला—विभो ! मै किस आलम्बन बना कर मानसिक-प्रसाद को पा सकता हूँ ? और मुझ बताइए कि म प्रमा॰ से मुक्त कस बन सकता हू।

भगवान् प्राह—

> अनन्तानन्द सम्पूर्ण आत्मा जयति देहिनाम।
> तच्चित्तस्तन्मना मेघ !, तदध्यवसितो भव ॥२॥

२ भगवान् ने कहा—आत्मा अनन्त आनन्द स परिपूर्ण है। मघ ! तू उसीमें चित्त को रमा उसीमें मन को लगा और उसीमें अध्यवसाय को सजोए रख।

> तद् भावनाभावितश्च तदर्थे विहितार्पण ।
> भुञ्जानोऽपि च कुर्वाणस्तिष्ठन् गच्छंस्तथा वदन ॥३॥

३ मेघ ! जब जब तू खाए काय करे ठहर चले और बोल तब-तब आत्मभावना से भावित बन और आत्मा के लिए सब कुछ समर्पित किए रह।

जीवश्च म्रियमाणश्च भुञ्जानो विषयिव्रजम्।
तत्लेश्यो लप्स्यसे नूनं मनःप्रसादमुत्तमम्॥४॥

४ तू जीवन काल में, मृत्युकाल में और इन्द्रियों का व्यापार करते समय आत्मा की लेश्या (भाव धारा) से प्रवाहित होकर उत्तम मानसिक प्रसाद को प्राप्त होगा।

आत्मस्थित आत्महित आत्मयोगी ततो भव।
आत्मपराक्रमो नित्यं ध्यानलीनः स्थिराशयः॥५॥

५ तू आत्मा में स्थित बन, आत्मा के लिए हितकर बन, आत्म-योगी बन, आत्मा के लिए पराक्रम करने वाला बन, ध्यान में लीन और स्थिर आशय वाला बन।

समितो मनसा वाचा कायेन भव सन्ततम्।
गुप्तश्च मनसा वाचा कायेन सुसमाहितः॥६॥

६ तू मन, वचन और काया से निरन्तर समित (सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला) बन तथा मन, वचन और काया से गुप्त और सुसमाहित बन।

मनःप्रसादपूर्वाणि वसहांश्च [illegible]
[illegible] नूनं लप्स्यसे [illegible]॥७॥

७ तू नय सिर में [illegible] को [illegible] मन [illegible] कलहों का [illegible] कर इस प्रकार तुम [illegible]।

क्रोधादीन् मानसान् वेगान् [illegible]
परित्यज्यात्सहिष्णुत्व लप्स्यसे [illegible]

८ क्रोध आदि मानसिक वेगों, चुगली और असहिष्णुता को छोड़ इस प्रकार तुम मन की स्थिरता प्राप्त होगी।

पादयुग्मञ्च संहृत्य प्रसारितभुजाद्वय।
ईषन्नत स्थिरदृष्टिलप्स्यसे मनसो धृतिम् ॥९॥

९ दोनों पैरों को सटा कर दोनों भुजाओं को फैला कर थोड़ा झुक कर तथा दृष्टि को स्थिर बना इस प्रकार तुझे मानसिक धैर्य प्राप्त होगा।

प्रयत्न नाधिकुर्वाणोऽलब्धांश्च विषयान् प्रति।
लब्धान् प्रतिविरज्यंश्च मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१०॥

१० अप्राप्त विषयो पर अधिकार करने का प्रयत्न मत कर और प्राप्त विषयों से विरक्त बन इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

अमनोज्ञ-सप्रयोगे नार्तं ध्यायन् कदाचन।
मनोज्ञ विप्रयोगे च मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥११॥

११ अमनोज्ञ विषयो का सयोग होने पर और मनोज्ञ विषयों का वियोग होने पर तू आर्तध्यान मत कर (अपने मानस को चिन्ता से पीडित मत बना) इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

रोगस्य प्रतिकाराय, नार्त ध्यायस्तथा त्यजन्।
फलाशा भोगसकल्पान् मनस स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१२॥

१२ रोग के उत्पन्न होने पर चिकित्सा के लिए आर्तध्यान मत कर तथा भौतिक फल की आशा और भोग विषयक सकल्पों को छोड़ इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

शोक भय घृणां द्वेष, विलाप क्रन्दन तथा।
त्यजन्नज्ञानजान् दोषान्, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१३॥

१३ शोक, भय घृणा द्वेष विलाप, क्रन्दन और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोषों को तू छोड़ इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

संप्राप्तानां नाम भोगानां, रक्षणायाचरेज्जनः।
हिंसा मृषा तथाऽदत्तं, तेन रौद्रः स जायते ॥१४॥

१४ मनुष्य प्राप्त भोगों की रक्षा के लिए हिंसा असत्य और चोरी का आचरण करता है और उससे वह रौद्र बनता है।

तथा विरज्यन् जीवस्य चित्तस्वास्थ्यं पलायते।
संरक्षणमनादृत्य, मनसः स्वास्थ्यमाप्स्यसि ॥१५॥

१५ जो मनुष्य रौद्र होता है उसका मानसिक-स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। तू भोगों की रक्षा का प्रयत्न मत कर इस प्रकार तुझे मानसिक-स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

रागद्वेषौ लयं यातौ यावन्तौ यस्य देहिनः।
सुखं मानसिकं तस्य तावदेव प्रजायते ॥१६॥

१६ जिस मनुष्य के राग-द्वेष का जितनी मात्रा में विलय होता है उसे उतना ही मानसिक-सुख प्राप्त होता है।

वीतरागो भवल्लोको वीतरागमनुस्मरन्।
उपासकदशां हित्वा स्वमुपास्यो भविष्यसि ॥१७॥

१७ जो पुरुष वीतराग का स्मरण करता है

बन जाता है। वीतराग का स्मरण करने से तू उपासकदशा को छोड़ कर स्वयं उपास्य (उपासना करने योग्य) बन जाएगा।

इन्द्रियाणि च संयम्य कृत्वा चित्तस्य निग्रहम्।
सस्पर्शन्नात्मनात्मानं, परमात्मा भविष्यसि ॥१८॥

१८ इन्द्रियों का संयम कर चित्त का निग्रह कर आत्मा से आत्मा का स्पर्श कर इस प्रकार तू परमात्मा बन जाएगा।

यल्लेश्यो म्रियते लोकस्तल्लेश्यश्चोपपद्यते।
तेन प्रतिपलं मेघ! जागरूकत्वमर्हति ॥१९॥

१९ यह जीव जिस लेश्या (भावधारा) में मरता है उसी लेश्या (उसी भाव धारा की अनुरूप गति) में उत्पन्न होता है। इसलिए हे मेघ! तू प्रतिपल आत्म जागरण में जागरूक बन।

जायतेऽस्य तृतीयेऽस्मिन् भागे प्रायेण देहिनाम्।
आयुषो जायते बन्ध एष तृतीयकल्पना ॥२०॥

२० सोपक्रम (किसी निमित्त से आयु की अवधि अल्प हो जाती है, वैसा) आयु वाले जीवों के जीवन के तीसरे भाग में नरक आदि आयु में से किसी एक आयु का बन्धन होता है। जीवन के तीसरे भाग में आयु का बन्धन न हुआ हो तो फिर तीसरे भाग के तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है। उसमें भी बन्धन न हुआ हो तो फिर अवशिष्ट के तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है। इस प्रकार जो आयु शेष रहती है उसके तीसरे भाग में आयु का बन्धन होता है।

तृतीयो नाम को भागो नेति ज्ञातुमर्हसि।
सर्वदा भव शुद्धात्मा तेन यास्यसि सद्गतिम् ॥२१॥

२१ जीवन का तीसरा भाग कौन सा है इसे तू जान नहीं सकता। इसलिए सर्वत्र अपनी आत्मा को शुद्ध रख, इस प्रकार तू सद्गति को प्राप्त होगा।

कृष्णा नीला च कापोती पापलेश्या भवन्त्यमू।
तैजसी पद्मशुक्ले च, धर्मलेश्या भवन्त्यमू ॥२२॥

२२ पाप लेश्याएं तीन है—कृष्ण नील और कापोत। धर्म-लेश्याएं भी तीन हैं—तैजस, पद्म और शुक्ल।

तीव्रारम्भ-परिणत क्षुद्र साहसिकोऽयति।
पञ्चास्रव प्रवृत्तश्च कृष्णलेश्यो भवेत् पुमान् ॥२३॥

२३ जो तीव्र हिंसा में परिणत है क्षुद्र है बिना विचारे कार्य करता है भोग से विरत नहीं है और पांच आश्रवों में प्रवृत्त है वह व्यक्ति कृष्ण-लेश्या वाला होता है।

ईर्ष्यालुर्द्वेषमापन्नो गृद्धिमान् रसलोलुप।
अह्रीकश्च प्रमत्तश्च नीललेश्यो भवेत् पुमान् ॥२४॥

२४ जो ईर्ष्यालु है, द्वेष करता है विषयों में आसक्त है सरस आहार में लोलुप है लज्जाहीन और प्रमादी है वह व्यक्ति नील-लेश्या वाला होता है।

वक्रो वक्रसमाचारो मिथ्यादृष्टिश्च मत्सरी।
औपधिको दुष्टवादी कापोतीमाश्रितो भवेत् ॥२५॥

२५ जिसका चिन्तन वाणी और कर्म कुटिल होता है, जिसकी दृष्टि मिथ्या है जो दूसरे के उत्कर्ष को सहन नहीं करता जो दम्भी

है और जो दुवचन बोलता है वह व्यक्ति कापोत लश्या वाला होता है।

विनीतोऽचपलोऽमायी दान्तश्चावद्यभीरुक ।
प्रियधर्मा दृढधर्मा, तजसीमाश्रितो भवेत ॥२६॥

२६ जो विनीत है जो चपलता रहित है जो सरल है जो इन्द्रिया का दमन करता है जो पापभीरु है जिस धर्मप्रिय है और जा धम म दढ है वह व्यक्ति तजस-लेश्या वाला होता है।

तनुतमक्रोध-मान-माया-लोभो जितेद्रिय ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा पद्मलेश्यो भवेत पुमान ॥२७॥

२७ जिसके क्रोध मान माया और लोभ बहुत अल्प हैं जो जितेद्रिय है जिसका मन प्रशात है और जिसने आत्मा का दमन किया है वह व्यक्ति पद्म लेश्या वाला होता है।

आर्तरौद्रे वर्जयित्वा धर्म्यशुक्ले च साधयन्।
उपशान्त सदागुप्त शुक्ललेश्यो भवेत पुमान् ॥२८॥

२८ जो आर्त और रौद्र ध्यान का वजन करता है जो धम और शुक्ल ध्यानका साधना करता है जो उपशान्त है और जो निरन्तर मन, वचन और काया से गुप्त है वह व्यक्ति शुक्ल लश्या वाला होता है।

लेश्याभिरप्रशस्ताभिर्मुमुक्षो ! दूरतो व्रज ।
प्रशस्तासु च लेश्यासु मानस स्थिरता नय ॥२६॥

२६ हे मुमुक्षु ! तू अप्रशस्त (पाप) लेश्याओं से दूर रह और प्रशस्त (धम) लेश्याओं में मन का स्थिर बना।

उपकारापकारौ च विपाक मवन तथा।
कुरुद्व धममात्मस्य क्षमां पञ्चावलम्बनम् ॥३०॥

३० पाँच कारणा से मुझे क्षमा का सेवन करना चाहिए। वे पाँच ये है—

(१) इसने मेरा उपकार किया है इसलिए इसके कथन या प्रवृत्ति पर मुझे क्रोध नहीं करना चाहिए—मुझे क्षमा रखना चाहिए।

(२) क्षमा नहीं रखने से अर्थात् क्रोध करने से मेरी आत्मा का अपकार-अहित होता है इसलिए मुझे क्षमा रखना चाहिए।

(३) क्रोध का परिणाम बड़ा दुःखद होता है इसलिए मुझे क्षमा रखनी चाहिए।

(४) आगम की वाणी है कि क्रोध नहीं करना चाहिए इसलिए मुझे क्षमा रखनी चाहिए।

(५) क्षमा मेरा धर्म है इसलिए मुझे क्षमा रखनी चाहिए।

आर्जव वपुषो वाचो मनसः सत्यमच्यते।
अविसम्वादयोगश्च सत्र स्थापय मानसम् ॥३१॥

३१ काया, वचन और मन की जो ऋजुता है वह सत्य है। कहनी और करनी की समानता है वह सत्य है। उस सत्य में तू मन को रमा।

अन्नदान प्रवचन परलाभस्य तद्वधम्।
आगमन च कामानां स्नानविप्रायन तथा ॥३२॥
एतच्च हेतुभिश्चितमुच्चावच प्रधारयन्।
निर्ग्रन्थो घातमाप्नोति दुःखगम्यां व्रजत्यपि ॥३३॥

३२ ३३ मुनि के लिए चार दु ख शय्याए (दु ख देनवाली शय्याए) बतलाई गई ह —

१ निग्रन्थ प्रवचन में अश्रद्धा करना
२ दूसर श्रमणो द्वारा भिक्षा की चाह रखना
३ काम भोगो की इच्छा करना
४ स्नान आदि की अभिलाषा करना।

इन कारणो स साधु का चित्त अस्थिर बनता है और वह सयम की हानि को प्राप्त होता है अत निग्रन्थ क लिए य चार दु ख-शय्याए ह।

श्रद्धाशील प्रवचन, स्वलाभे तोषमाश्रित ।
अनाशसा च कामाना, स्नानाद्यप्रार्थन तथा ॥३४॥
एतच्च हेतुभिश्चित्तमुच्चावचमधारयन ।
निग्रन्थो मुक्तिमाप्नोति सुखशय्यां व्रजत्यपि ॥३५॥

३४ ३५ मुनि क लिए चार सुख शय्याएँ (सुख दन वाली शय्याएँ) बतलाई गई है—

१ निग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा करना
२ भिक्षा में जो वस्तुए प्राप्त हो उन्हीं में सन्तुष्ट रहना,
३ काम भोगो की इच्छा न करना
४ स्नान आदि की अभिलाषा न करना।

इन कारणो स साधु का चित्त स्थिर बनता है और वह मुक्ति को प्राप्त होता है अत निग्रन्थ के लिए य चार सुख-शय्याए ह।

दुष्टा व्युत्पादिता मूढा दु सज्ञाप्या भवन्त्यमी।
सुसज्ञाप्या भवन्त्यन्य विपरीता इतो जना ॥३६॥

नान है। ठहरने वालों के लिए स्थान है और चलनेवालों के लिए उत्तम गति है।

शरण चास्य ऽ बन्धूना प्रतिष्ठा चलचेतसाम।
पोतश्चासि तितपूणा श्वास प्राणभृता महान ॥४१॥

४१ आप अशरणों के शरण है। अस्थिर चित्त वाले मनुष्यों के लिए प्रतिष्ठान है। ससार से पार होने वालों के लिए नौका है और प्राण धारियों के आप श्वास है।

तीर्थनाथ! त्वया तीर्थमिदमस्ति प्रवर्तितम।
स्वयसम्बुद्ध! सम्बुद्धचा बोधित सकल जगत ॥४२॥

४२ हे तीर्थनाथ! आपने इस चतुर्विध सघ का प्रवर्तन किया। हे स्वयमबुद्ध! आपने अपने ज्ञान से समस्त ससार को जागृत किया है।

अहिंसाराधना कृत्वा, जातोऽसि पुरुषोत्तम।
जात पुरुषसिहोऽसि, भयमुत्साय सवथा ॥४३॥

४३ भगवन! आप अहिंसा की आराधना कर पुरुषोत्तम बने है भय को सवथा छोड पुरुषों में सिह के समान पराक्रमी बने है।

पुरुषषु पुण्डरीक निर्लेपो जातवानसि।
पुरुषेषु गन्धहस्ती जातोऽसि गुणसम्पदा ॥४४॥

४४ निर्लेप होने के कारण आप पुरुषों में पुण्डरीक-कमल के समान है। गुण सम्पदा से समृद्ध होने के कारण आप पुरुषों में गन्धहस्ती के समान है।

लोकोत्तमो लोकनाथो, लोकदाथो ऽभयप्रद ।
दृष्टिदो मार्गद पुसां प्राणदो बोधिदो महान् ॥४५॥

४५ भगवन्! आप ससार में उत्तम है ससार के एकमात्र नेता है ससार में आप है, अभयदाता है दृष्टि देनेवाले हैं मार्ग देने वाले है प्राण और बोधि देने वाले है।

धर्मश्चातुरन्तचक्रवर्ती महाप्रभ ।
शिवोऽचलोऽक्षयोऽनन्तो, धर्मदो धर्मसारथि ॥४६॥

४६ प्रभो! आप धर्म चक्रवर्ती है। महान प्रभाकर है शिव हैं अचल है अक्षय है अनन्त है धर्म का दान करनेवाले है और धर्म-रथ के सारथि है।

जिनश्च जापकश्चासि तीर्णस्तथासि तारक ।
बुद्धश्च बोधकश्चासि मुक्तस्तथासि मोचक ॥४७॥

४७ प्रभो! आप आत्म-जेता है और दूसरो को विजयी बनाने वाले है। स्वय ससार सागर से तर गए है दूसरो को उससे तारने वाले है। आप बुद्ध है दूसरो को बोधि देने वाले है स्वय मुक्त है दूसरो को मुक्त करनेवाले है।

निग्रन्थानामधिपते प्रवचनमिद महत्।
प्रतिबोधश्च मेघस्य शृणुयाच्छ्रद्धीत य ॥४८॥
तिमिरा जायते दृष्टिर्मार्ग स्याद् दृष्टिमायत ।
मोहश्च विलय गच्छेन्मथितस्तस्य प्रजायते ॥४६॥

४८ ४६ निर्ग्रन्थो के अधिपति भगवान् महावीर के इस महान्

रखता है, उसकी दृष्टि निर्मल होती है, उस सम्यक् पथ की प्राप्ति होती है, मोह के बन्धन टूट जाते हैं और वह मुक्त बन जाता है।

प्रशस्ति

तत्त्वालोकोऽयं प्रसृत इह शब्देषु सततं
तत्त्वपा पुण्याभीरमलतम भावानुपगता।
प्रभो ! शब्दैरर्चामकृषि सुलभं संस्कृतमयं
स्तदेपाऽऽलोकाय प्रभवतु जनानां सुमनसाम् ॥१॥

दीपावल्यां पावने पर्वणीह
निर्वाणस्यानुत्तरे वासरेऽस्मिन्।
निर्ग्रन्थानां स्वामिनो ज्ञातसूनो
रर्चां कृत्वा मोदते नत्थमल्लः ॥२॥

विक्रमे द्विसहस्राब्दे पावने षोडशोत्तरे।
कलकत्ता महापुर्यां, सम्बोधिश्च प्रपूरिता ॥३॥

आचार्यवर्य तुलसी चरणाम्बुजेषु
वत्ति व्रजन् मधुकृतो मधुरामगम्याम्।
भिक्षोरनन्त-सुकृतोमत शासनेऽस्मिन्,
मोदे प्रकाममतुलं प्रसजन्नमोघम् ॥४॥